Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 15 अंक 1 जनवरी, 2001

# उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण

रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 15 अंक 1 जनवरी, 2001

# उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

## संपादन-सहयोगी


1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. दयाकृष्ण, बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302015
3. रमेशचन्द्र शाह, निदेशक-निराला सृजन-पीठ, सी-165/1, प्रोफेसर कालोनी, भोपाल- 462002
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली - 110011


## संपादक


1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
   दूरभाष 515693
2. मुकुन्द लाठ, ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006
   दूरभाष 213737 / 211725



**वार्षिक शुल्क**
व्यक्तिगत — रु. 40/-
संस्थाएं — रु. 60/-

**आजीवन शुल्क**
व्यक्तिगत — रु. 400/-
संस्थाएं — रु. 4000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेज़र कंपोजिंग तथा कमल प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।


CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# अनुक्रमणिका


1. सत् की चिन्मयता — यशदेव शल्य 1
2. गीता के सन्दर्भ में कर्म, ज्ञान एवं मूल्यबोध — राजेन्द्रस्वरूप भटनागर 15
3. मानं द्विविधं विषय द्वैविध्यात् — अम्बिकादत्त शर्मा 27
4. सामान्य ज्ञान की समस्या — नारायण शास्त्री द्राविड़ 41
5. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की अवधारणा : कुछ ऊहापोह — रामस्वरूप चतुर्वेदी 47

टिप्पणी

अनवस्था की विश्रांति — अम्बिकादत्त 52

स्पष्टीकरण — यशदेव शल्य 55

गोष्ठियाँ

1. उन्मीलन-गोष्ठी 1 मूल्यविषयक औपिनषद् दृष्टि 56
   वक्ता— नंदकिशोर शर्मा, राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, यशदेव शल्य
2. उन्मीलन गोष्ठी 2 66
   वक्ता — सरला कल्ला, के. एल. शर्मा, नंदकिशोर शर्मा, दयाकृष्ण, यशदेव शल्य


CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# सत् की चिन्मयता*

यशदेव शल्य

चेतना को संवेद के रूप में देखा जाता है। इस तरह मूर्छित और मृत को अचेतन कहा जाता है क्योंकि ये शरीर को छूने पर कोई प्रतिक्रिया नहीं करते। इससे इनमें संवेद का अभाव सूचित होता है जिसे चेतना का अभाव कहा जाता है। वैज्ञानिक जगदीशचंद्र बोस ने वनस्पतियों में चेतना की विद्यमानता यह दिखाकर सिद्ध की थी कि उनमें उद्दीपनों से प्रतिक्रिया घटित होती देखी जाती है जिससे उनमें संवेदनशीलता सूचित होती है। किन्तु यदि हमारा ध्यान किसी घटना की ओर नहीं होता तो हम उस घटना के प्रति भी अचेतन कहे जाते हैं। मनोविश्लेषण-सिद्धान्त में 'अचेतन', 'अवचेतन' आदि पदों का प्रयोग उन मन:स्थितियों के लिए होता है जो हमारी होती हैं किन्तु जिनके होने को हम जानते नहीं हैं, चाहे उन्हें 'नहीं जानने' का कारण उन्हें जानने की घोर अनिच्छा ही हो। चेतना की दूसरी परिभाषा विषयिता से भी दी जा सकती है जिसमें उद्दीपक विषय के रूप में और उसकी प्रतिक्रिया विषयी के रूप में देखी जाती है। किन्तु वास्तव में 'विषयिता' से मात्र प्रतिक्रिया से कुछ अधिक अभिप्रेत होता है। इसमें सम्बन्ध का रूप उद्दीपक और उद्दीप्त का नहीं होकर उन्मुखता और लक्षित का होता है। इसमें विषय की विद्यमानता चेतना से बाहर

---

* इस लेख में प्रस्तुत चित् और सत् विषयक मेरा विचार एतद्विषयक मेरे विस्तृत लेखन के सारांश जैसा है। मेरा मत चिदद्वैतवाद के अन्तर्गत ही पड़ता है, इस प्रकार यह अद्वैत-वेदान्त-परिवार का सदस्य माना जा सकता है। किन्तु सम्भवत: यह उससे, और दूसरे ऐसे सब सिद्धान्तों से कुछ गहरे अर्थों में भिन्न भी है जिनकी सन्तान यह प्रतीत हो सकता है। यहाँ 'सम्भवत:' मैंने इसलिए लिखा क्योंकि मेरी दर्शन के इतिहास की जानकारी बहुत कम है। मेरे विचार को संकर अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु, जैसा कि सर्वविदित है, संकर किसी भी समाज में सम्माननीय नहीं होते, तब वे और भी असम्माननीय होते हैं जब सन्तान को अपने माता और पिता का ही नहीं, वंश का भी पता नहीं हो। इसलिए यदि दार्शनिक विद्वान सत् और चित् विषयक मेरे विचार की, जो इस लेख में सारांश रूप में और इस प्रकार ठोस रूप में प्रस्तुत हुआ है, आलोचना या भर्त्सना करना चाहें तो लेखक, और उन्मीलन का सम्पादक मण्डल भी, उसका स्वागत करेगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



देश में आवश्यक नहीं होती। बाहर देश में विद्यमानता केवल प्रत्यक्ष इन्द्रिय-विषयों की देखी जाती है किन्तु विषयि-विषय-द्वैत इच्छा, स्वप्न, कल्पना, स्मृति, विचार आदि में भी होता है जबकि इनमें विषय की स्थिति बाहर देश में नहीं होती। किन्तु तब भी इनके विषय विषयी से बाहर ही होते हैं। इन्द्रिय-विषयों के लिए यह समझना सहज लगता है कि वे बाह्य वस्तुएँ हैं—भौतिक पदार्थ, यद्यपि अन्य जीवों के इन्द्रिय-विषयों के लिए यह बात स्वत:स्पष्ट जैसी प्रतीत नहीं होती। गाय के लिए घास बाह्य देश-स्थित दृश्य विषय होता है या कि वर्ण, गन्ध आदि से प्रेरित भूख का विषय मात्र, यह बहुत स्पष्ट नहीं है। अवरतर जीवों के सम्बन्ध में यह कहना और भी कठिन होता है। किन्तु मनुष्य के लिए भी अन्य प्रकार के विषयों की पदार्थता कैसी होती है? उदाहरणत: स्मृति-विषय अधिकांशत: अतीत भौतिक विषय ही होते हैं, यद्यपि वे अन्य प्रकार के भी हो सकते हैं—जैसे अतीत इच्छा और इच्छित, विचार और विचारित, कल्पना और कल्पित, स्वप्न और स्वप्नगत ये सभी स्मृति-विषय हो सकते हैं। अतीत भौतिक विषय का भी कोई भौतिक या बाह्य देश में अस्तित्व नहीं हो सकता। काल में तो सभी स्मृति-विषय अतीत ही होते हैं और इस प्रकार कालत: अस्तित्व-रहित होते हैं यद्यपि स्मृतिगत रूप में ये उतने ही वर्तमान होते हैं जितने प्रत्यक्ष विषय वर्तमान होते हैं। इस प्रकार ये विषय द्विगुणित रूप में चेतना के अन्तर्गत सत्त्व ही ठहरते हैं। किन्तु विषय होने से ये विषयी से, जो चेतना का स्वत्व है, बाहर ही होते हैं। इसी से भारतीय दार्शनिकों में से अधिकांश ने विषय को जड़ या प्राकृतिक ही कहा है, चेतन या चेतना नहीं कहा है। इधर पश्चिम में हुस्सर्ल और उसके अनुयायी भी विषय की सत्ता चेतना से बाहर ही रखते हैं और इन्हें प्राकृतिक और चेतना के द्वारा बहिष्कार्य मानते हैं। उनके अनुसार शुद्ध चेतना वह है जो इनको बहिष्कृत कर साक्षिभाव से रहती है। यद्यपि यह चेतना ही इन विषयों का आक्षेप करती है और यह आक्षेपन इसका अनिवार्य धर्म है, किन्तु यह अपने द्वारा आक्षिप्त इन विषयों से अतिक्रामी रहती है।

द्रष्टव्य है कि विषय को अपने से पृथक् कर देख सकने वाली विषयी : द्रष्टृ : चेतना केवल मनुष्य को ही सुलभ है, अन्य जीवों को नहीं। इस चेतना को आत्मचेतन कहा जाता है। इसी चेतना में स्मृति, कल्पना, स्वप्न और विचार घटित होते हैं, इसी में इच्छा अपने को इच्छित से, विचार विचारित से, कल्पना कल्पित से पृथक् पहचान पाती है और अनुक्रमश: ये इच्छा, विचार, कल्पना आदि स्वयं द्रष्टृ चेतना द्वारा विषय रूप में पहचाने जाते हैं। शेष जीव आत्मचेतन नहीं होते और इस प्रकार उनमें विषयि-विषय-भेद नहीं होता। इस प्रकार यह भी कह सकते हैं कि आत्म-अचेतन चेतना विषयापेक्षी भी नहीं होती

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



क्योंकि वह विषय से पृथक् या विषय उससे पृथक् कुछ होते ही नहीं। ऐसा भी नहीं है कि चेतना केवल सविषया ही होती है और केवल उद्दीपन से ही व्यक्त होती है। निद्रा या तंद्रा (हिबर्नेशन) में पड़े जीव की चेतना मात्र अव्यक्त अस्तित्व-बोध के रूप में ही होनी चाहिए, यही निद्रा में मनुष्य की चेतना का भाव भी होना चाहिए। किन्तु वास्तव में जीवन के निम्नतर स्तरों पर चेतना अस्तित्वभाव मात्र के रूप में, या भोगमात्रभाव के रूप में, या किसी आवेग के रूप में ही रहती है, ऐसा कहना चाहिए। 'अनात्मचेतन चेतना' का यही अर्थ है। मनुष्य से अवरतर जीवों में भी आत्मचेतना स्तर-क्रम से न्यूनाधिक रहती है, यह भी कहा जा सकता है। उस अवस्था में उनमें भी विषयि-विषय द्वैत का स्तर-भेद स्वीकार करना होगा। किन्तु मनुष्य के स्तर पर चेतना के इतिहास में एक आधारभूत क्रांति घटित होती है, जब चेतना विषय को अपने से बहिष्कृत कर उसे उसका नाम दे पाती है, उसका उसकी निजता में निर्धारण कर पाती है और स्वयं को उसके विषयी के रूप में प्रकाशित करती है। इस प्रकार जो विषय-जगत् चेतना में अस्फुट रूप में, किसी नाम-रूप के बिना अन्तर्हित था वह उसके बाहर अपना स्वतंत्र अस्तित्व ले लेता है और चेतना अपने शुद्ध स्वरूप के साक्षात्कार की दिशा में यात्रा आरम्भ करती है। चेतना का यह शुद्ध स्वरूप ज्ञातृत्व-द्रष्टृत्व का होता है।

इसका अर्थ है कि चेतना की आत्म-अचेतनता की अवस्था उसकी पूर्ण जगद्भावमयता, जगद्भाव में तल्लीनता की अवस्था है। विषयभाव में तल्लीनता की अवस्था केवल ऐन्द्रिक विषय के साथ तादात्म्य की अवस्था ही नहीं है बल्कि उन सब अवस्थाओं के साथ तादात्म्य की अवस्था भी विषय-भाव में तल्लीनता की अवस्था ही है जिन अवस्थाओं का विषयकरण हो सकता है। और यह विषयकरण द्रष्टृभाव के अतिरिक्त सब अवस्थाओं का हो सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मचेतना शुद्ध द्रष्टृभाव की सिद्धि की अवस्था होती है। आत्मचेतन जीव : मनुष्य : बहुधा विषयोन्मुख ही रहता है, केवल उसकी चेतना विषय के साथ उसकी विषयिता को भी विषय से पृथक् देखना आरम्भ कर देती है जिससे विषय का पृथक् सत्त्व प्रकट हो जाता है, और वह विषयिता भी अर्धोन्मीलित द्वितीय स्तरीय विषयिता को अर्धोन्मीलित विषय रूप में प्रस्तुत रहती है। किन्तु यह विषयी भी अन्ततः विषय ही है, यह तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक यह (विषयी) विषयकृत नहीं होता। किन्तु आत्मचेतन चेतना के लिए यह देखना सम्भव होता है। यह चेतना का प्रत्यङ्मुख आरोहण कहा जाता है जो इसके जगद्भाव में पराङ्मुख प्रवर्त्तन से मुक्ति की दिशा है। यह प्रत्यङ्मुखता इच्छा, क्रिया और अहंकार आदि को प्रेक्ष्य विषयों के रूप में और इस प्रकार 'अपने' से : आत्मा से : इतर के रूप में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



प्रकट करती है। चेतना के इतिहास में यह चरण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है, क्योंकि यह एक ओर भाषा, समाज, सदसद्विवेक आदि का हेतु बनता है और दूसरी ओर ईश्वर के अनुरूप बाह्य लोक-सर्जन का।

भाषा सामान्य या प्रत्यय के अवगमन की क्षमता से सम्भव होती है और यह विशेषात्मक ऐन्द्रिय विषयों का भी सामान्यों में रूपान्तरण कर उन्हें अपना विषय बनाती है। विशेषों का सामान्यों में यह रूपान्तरण ही स्मृति, कल्पना, विचार और विदेक को सम्भव करता है, जिनके विषय स्वरूपत: ही सामान्य होते हैं। ये सामान्य उद्ग्रहणात्मक (एब्स्ट्रेक्शंस) नहीं होते, जो विशेषों में अशेषत: अन्तर्भाव्य होते हैं—नाममात्रवादियों के 'वार्द्धक्य', 'यौवन' आदि के समान, बल्कि वस्तुसत् ही होते हैं जिनको उद्ग्रहणों से पृथक् करने के लिए हम 'प्रत्यय' कहते हैं। इन सामान्यों का साक्षात्कार ही व्यक्ति को अहंकार से मुक्ति देकर उसके लिए अपने को समाज के एक सदस्य के रूप में देखना सम्भव करता है। भाषा में सर्वनाम व्यक्ति की इस अशेष अहंकार-मुक्ति के प्रमाण कहे जा सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि सब मानव-व्यक्ति सब समय अहंकार-मुक्त होते हैं, अधिकांशत: तो वे अहंकार-ग्रस्त ही होते हैं, किन्तु चेतना के एक स्तर पर उन्हें अपनी यह अहंकारोपहितता विदित भी रहती है। इसीसे मनुष्य अपनी इच्छाओं, कर्मों और प्रवृत्तियों को विवेच्य बना पाता है, और इससे आगे, इनके विवेचन के लिए निकष का साक्षात्कार कर पाता है। इन सबके स्वरूप पर हमने **समाज : दार्शनिक परिशीलन** पुस्तक के 'संस्कृति और समाज, अधिष्ठान की समस्या', 'भाषा', 'नैतिकता' और 'न्याय' आदि अध्यायों में विस्तार से विचार किया है।

यहाँ हम चेतना के इस ऊर्ध्वारोहण के एक दूसरे पक्ष पर विचार करेंगे। दर्शन के इतिहास में यह एक सर्वमान्य सी बात रही है कि चेतना या तो अर्थों (वस्तुजगत्) को यथावत् रूप में जान ही नहीं सकती, केवल ऐन्द्रिय संवेदों : विज्ञप्तियों : के द्वारा ही जान पाती है, अथवा बाह्य अर्थ ऐन्द्रिय संवेदों से बाहर कुछ होते ही नहीं। बौद्धों के 'स्वलक्षण' और 'सामान्यलक्षण' तथा 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' और 'विकल्प' पद यही धारणा दर्शाते हैं। यही दृष्टि काँट और पश्चिम के अनुभववादियों-प्रत्यक्षवादियों में भी दिखायी देती है। किन्तु हम देखते हैं कि भौतिक विज्ञान भौतिक तत्त्व के स्वरूप को और जीव विज्ञान जैव तत्त्व के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करते हैं और इन्हें क्रमश: अधिकाधिक जान पाते हैं। इसी प्रकार हम प्राणियों के व्यवहार, अन्य मनुष्यों के मनोभाव, प्रस्तुत स्थितियों से अप्रस्तुत स्थितियों के रूप-गुण या कारण-कार्यादि सम्बन्धों के स्वरूप को जानते हैं, और दूसरी ओर बिना ध्यान दिये, बिना विचारे और विवेचन किये हम अपने भी मनोभावों और चरित्र को नहीं जानते। कागज़,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



पत्थर या धातु पर बनी कुछ आकृतियाँ देख कर हम उनके लिपि होने का अनुमान करते हैं, कल्पना और विचार से हम उन अपरिचित लिपियों को पढ़ पाते हैं और उससे हम एक अतीत सभ्यता के अस्तित्व और स्वरूप का आभास पाते हैं और विचार तथा अनुमान द्वारा क्रमशः उस सत्य का न्यूनाधिक साक्षात्कार कर पाते हैं। यह सब विचार और कल्पना द्वारा ही सम्भव होता है। निश्चय ही अन्य सभ्यता भी एक विकल्प-सृष्टि ही होती है और हमारे द्वारा उसका साक्षात्कार भी विकल्प के द्वारा ही होता है, किन्तु दार्शनिक लोग विकल्प के सम्बन्ध में जो समझते हैं उसमें उसकी अन्य विकल्प के साक्षात्कार की योग्यता सम्मिलित नहीं है, केवल अपनी असत्सृष्टि की योग्यता ही उसकी (विकल्प की) योग्यता समझी जाती है। किन्तु यदि विकल्प के स्वरूप पर सम्यक् विचार करें तो इसके सम्बन्ध में उपर्युक्त मान्यता की भ्रान्तता सहज स्पष्ट हो जाती है। विकल्प को असत्सर्जक इसलिए माना जाता है क्योंकि सत् किसी बाह्य अर्थ : भौतिक या अलौकिक : को माना जाता है, जिसका प्रापक ऐन्द्रिय संवेद या निर्विकल्पक आध्यात्मिक साक्षात्कार को माना जाता है। किन्तु तब या तो यह मानना होगा कि यह वस्तु-साक्षात्कार चेतना को उतना ही अव्यवहित होता है जितना जैव विकास का स्तर नीचा होता है अथवा यह मानना होगा कि वस्तु-साक्षात्कार चेतना के द्वारा अपने को उपहित करने वाले इन्द्रियादि व्यवधानों के निरास की क्षमता के अनुपात के अनुसार होता है। अब यदि इनमें यह दूसरा विकल्प स्वीकार किया जाता है तो उपाधि-निरसन में विवेकबुद्धि एकमात्र उपकरण सिद्ध होती है जो विकल्पों के द्वारा अतीन्द्रिय सत्यों का साक्षात्कार करती है। विकल्पों के विषय मूलतः प्रत्यय, सामान्य या आदर्श रूप ही होते हैं, विशेषों को वह : बुद्धि : सामान्यों के उदाहरणों के रूप में ही ग्रहण करती है। इसलिए विकल्पात्मक चेतना व्यक्ति-संकुचित नहीं होकर निर्वैयक्तिक ही होती है और इस प्रकार वह अपनी अहंकार से मुक्ति के लिए साधन बनती है। यह सही है कि विकल्प व्यक्ति-चित्तों में ही घटित होते हैं, इसलिए एक व्यक्ति का विचार दूसरे व्यक्ति को स्वतः विदित हो जाय ऐसा नहीं होता, किन्तु इस विचार-घटना की अन्तर्वस्तु वैयक्तिक नहीं होती, वह सार्वजनीन ही होती है। वैयक्तिकता या उसकी अभिव्यक्तिगत संकुचितता उस पर उपाधि-रूप ही होती है। व्यक्ति-चित्त जैसे-जैसे विकल्प के सोपान पर ऊपर चढ़ता जाता है वह अहंकार और वैयक्तिकता की उपाधि से मुक्त होता जाता है। यह ऊर्ध्वारोहण विकल्प की द्वन्द्वस्वरूपता के कारण उसमें स्वरूपगत होता है, क्योंकि इस द्वन्द्व में प्रस्तुत प्रतिज्ञा अनन्त प्रतिप्रतिज्ञाओं से समवेत होती है और ये दोनों (प्रतिज्ञा और प्रतिप्रतिज्ञा) अपनी संश्लेषक प्रतिज्ञा में अतिक्रमित रहती हैं, और यह सम्पूर्ण समावेशक और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



अतिक्रमणात्मक चैत्त व्यापार चेतना के प्रत्यङ्मुख आरोहण का प्रतिफल होता है।[1] यहाँ भौतिक विज्ञान के तत्त्वावगमन के स्वरूप को देखना सहायक होगा। भौतिक तत्त्व प्रथमत: ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय होता है। किन्तु इस रूप में वह आदर्श रूप से सद्य: प्रस्तुत संवेद-विषय मात्र ही हो सकता है जो कालत: क्षणिक और गुणत: अपनी नितान्त विशिष्टता में आत्मपर्यन्त होता है। किन्तु यह सद्य: संवेद-प्रदत्त भौतिकता और वस्तुता के गुण-धर्मों से रहित होता है। 'भौतिकता और वस्तुता' को प्राप्त करने के लिए इसे विकल्प का सहारा लेना पड़ता है। यह सहारा लेते ही यह सर्वजनसुलभ और व्यक्ति के विशेषाधिकार से मुक्त हो जाता है। भाषा का यह इसी रूप में विषय बनता है। किन्तु तब भी इस स्तर पर विकल्प-विषय के अन्तिम आश्रय व्यक्तिगत संवेद ही होते हैं, क्योंकि इसके अस्तित्व के लिए प्रमाण व्यक्तिगत संवेद ही बनते हैं। किन्तु विज्ञान अपनी अन्वेष्य इस भौतिकता को संवेदमात्र से मुक्त कर शुद्ध विकल्पों के देश में स्थानान्तरित कर देता है जहाँ यह पूर्णत: निर्वैयक्तिक चित्त का विषय होती है।

किन्तु यहाँ भौतिक विज्ञानी बहुत बड़ी भ्रांति का शिकार होता है। वह समझता है कि उसने न केवल भौतिक तत्त्व को व्यक्ति-चित्त से मुक्त कर दिया है बल्कि चित्तमात्र से ही मुक्त कर दिया है और चित्त को असत् सिद्ध कर दिया है। किन्तु यह दृष्टि-विपर्यास मात्र है। क्योंकि जिस प्रकार वर्ण चक्षु-इन्द्रियमूलक चित्त से और गन्ध घ्राणेन्द्रियमूलक चित्त से पृथक् कुछ नहीं है उसी प्रकार किरण-दैर्घ्य और जैव रसायन भी विकल्प-तंत्र से पृथक् कुछ नहीं हैं। (विज्ञान में किरण-दैर्घ्य वर्ण का भौतिक रूप और जैव रसायनि संवेद का जैविक रूप है।)

ध्यातव्य है कि 'किरण-दैर्घ्य' और 'जैव रसायन' पद संरचनाओं और नियमों के वाचक हैं और इस प्रकार विकल्पों के वाचक हैं, किन्हीं दृश्य या स्पृश्य सत्ताओं के वाचक नहीं हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ये संरचनाएँ और नियम विकल्पों की अन्तर्गत वस्तुएँ हैं या कि विकल्पों से स्वतंत्र देश में अवस्थित वस्तुएँ हैं? इस प्रश्न में यह पूर्वगृहीत है कि विकल्प उसी प्रकार की चैत्त घटनाएँ हैं जिस प्रकार की विज्ञप्तियाँ और आवेग होते हैं। अब, भय का विषय बाहर नहीं होता, उसका हेतु बाहर हो सकता है। ऐन्द्रिय विज्ञप्तियों के सम्बन्ध में दर्शन में विवाद है कि इनका विज्ञाप्य इनसे बाहर कुछ होता है या कि इनके अन्तर्गत ही होता है—इनकी अन्तर्वस्तु? इस दूसरे प्रश्न के उत्तर में

---

1 इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य — यशदेव शल्य — **चिद्विमर्श** में 'दर्शन का आरम्भ विन्दु' और **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** में 'दर्शन के आधार' अध्याय।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



कुछ दार्शनिक इसके हेतु को बाहर मानते हैं किन्तु इसमें प्रदत्त विषय को इसके अन्तर्गत ही मानते हैं, जैसे काँट, कुछ अन्तर्वस्तु को ही बाहर मानते हैं, जैसे न्याय और सर्वास्तिवादी, और कुछ हेतु और अन्तर्वस्तु किसी को भी बाहर नहीं मानते, जैसे वसुबन्धु और बर्कले। इसी विवाद को आधार बनाकर किरण-दैर्घ्य और जैव रसायन विषयक उपर्युक्त प्रश्न हैं। इस प्रश्न का उत्तर हम इस प्रश्न से देना चाहेंगे कि 'भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व विज्ञप्तियों से स्वतंत्र होता है' इस सिद्धान्त का अस्तित्व क्या इसकी प्रतिपादक प्रतिज्ञप्तियों से स्वतंत्र है या कि इनके अन्तर्गत है? अब यदि इस सिद्धान्त का अस्तित्व इसकी प्रतिपादक प्रतिज्ञप्तियों से स्वतंत्र मानते हैं तो यह मानना होगा कि संवेद या विज्ञप्तियाँ ही वस्तु-प्रापक नहीं होतीं विकल्प भी होते हैं। इसके प्रतिवाद में कहा जा सकता है कि 'किरण-दैर्घ्य' पद सूर्य-किरणों की विशेष रचना और माप का वाचक है, किसी सिद्धान्त का वाचक नहीं है। इसका उत्तर हो सकता है कि उपर्युक्त सिद्धान्त भी या तो किसी वस्तुस्थिति का वाचक है, विचारमात्र का नहीं, या फिर यह भ्रांत विचार और सिद्धान्त है। इसमें वही चेतन और भौतिक तत्त्वों के द्वैत की या उस द्वैत के निषेध की धारणा निहित है। इसका ध्यान रखते हुए हम अपना उदाहरण बदल सकते हैं और प्रश्न कर सकते हैं कि ''क्या घट का अस्तित्व घट-विकल्प से अलग है या कि इसका अंतर्गत अंश ही है?'' इसका उत्तर हो सकता है कि घट का अस्तित्व घटत्व पक्ष में घट-विकल्प का अंतर्गत अंश ही है किन्तु मिट्टी पक्ष में यह उसके बाहर और स्वतंत्र भी है। अब, निश्चय ही मिट्टी घट-विकल्प से बाहर, उससे अलग, भौतिक देश में ही, होती है और घट-कल्पना उसको आश्रित कर ही घट-रूप में लोक में अवतरित होती है, किन्तु घट में मिट्टी घट-कल्पना के अवतरण के लिए उपादान के रूप में होती है और 'उपादान' कल्पना के अन्तर्गत ही हो सकता है, उसके बाहर नहीं। किन्तु यहाँ इस प्रश्न को एक दूसरा मोड़ दिया जा सकता है—घट-कल्पना को हम 'घटकार की कल्पना' के रूप में देखते हैं किन्तु 'इस घट' को घटकार से स्वतंत्र 'केवल घट-कल्पना' के रूप में, जिसमें इसका उपादान भी सम्मिलित होता है, भी देखा जा सकता है। अब, जब मैं 'इस घट' को देखता हूँ तो एक वस्तु मेरा विषय होती है। किन्तु यह वस्तु घट-प्रत्यय से भिन्न क्या है? कहा जा सकता है कि यह घट-प्रत्यय से इस बात में भिन्न है कि घट-प्रत्यय पानी भरने के काम नहीं आ सकता जबकि 'यह घट' पानी भरने के काम आ सकता है। किन्तु घट-प्रत्यय से अनुप्रविष्ट हुए बिना भी 'यह घट' पानी भरने के काम नहीं आ सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि घटकार के चित्त में उन्मीलित प्रत्यय के अतिरिक्त घट-वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है, किन्तु उस अस्तित्व का चेतना से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



भिन्न होना आवश्यक नहीं है। इसे समझने के लिए हम एक दूसरा उदाहरण लें घट-चित्र का।

वास्तव में जब हम 'चेतना के बाहर' और 'चेतना के भीतर' अस्तित्व की बात करते हैं तब हम एक बहुत बड़ी भ्रांति के शिकार होते हैं। हम चेतना को व्यक्ति-चित्त से अभिन्न मानकर चलते हैं जबकि वास्तव में चेतना के लिए व्यक्ति-चित्त अभिव्यक्ति का अनेक में से एक माध्यम मात्र होता है। विज्ञप्ति को सत् और बाह्यार्थ को असत् मानने के आधार में भी यही भ्रांति निहित है। किन्तु यदि विज्ञप्ति ही सत् हो और बाह्यार्थ असत् हो तो प्रत्यय के लिए क्या कहेंगे? अवश्य प्रत्यय व्यक्ति-चित्त में विज्ञप्ति के माध्यम से ही विदित होता है किन्तु प्रत्यय की सत्ता उसके विज्ञप्त होने, विदित होने में नहीं होती। यदि घट-प्रत्यय की सत्ता व्यक्ति-चित्त में विज्ञप्त होने में मानी जाय तो 'घटत्व' एक सामान्य नहीं होगा बल्कि वह प्रत्येक घटकार के 'उस घट-निर्माण' में व्यक्त घट-प्रत्यय : घट-कल्पना : के साथ पृथक् सत्त्व होगा, जबकि वास्तव में घटत्व एक सामान्य और अनंत रूपों और आकारों की सम्भावना से अन्तर्गर्भ एक स्वतंत्र सत्त्व होता है। इसकी यह व्यक्ति-चित्त-बाह्यता स्वयं व्यक्ति की कृतियों में भी देखी जा सकती है। एक घट, एक भवन, एक कविता, चित्र या दार्शनिक प्रतिपादन रचा जाने या प्रतिपादन के बाद सबके लिए समान रूप से अवधेय, आलोच्य और विवेच्य होता है। अवश्य उसके सम्बन्ध में उसके रचयिता का यह विशेषाधिकार होता है कि वह ही बता सकता है कि उसमें उसका क्या अभिप्राय था, किन्तु दूसरों को यह अधिकार होता है कि वे उसे बतायें कि वह उस अभिप्राय की अभिव्यक्ति में कहाँ तक सफल रहा है; इससे भी आगे, कि वह उस अभिप्राय को समझने में कहाँ तक सम्यक् है, उसके आपादनों को वह कहाँ तक देख पाया है आदि। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि उसी अभिप्राय को लेकर दूसरे उससे अधिक गहरे या आगे जा सकते हैं, अथवा उसके अन्यान्य पक्षों को देख सकते हैं जो उसके रचयिता ने नहीं देखे हैं। यह जैसे वैचारिक रचनाओं में हो सकता है वैसे ही भावनात्मक और वर्णनात्मक रचनाओं में भी हो सकता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक सर्जक अपने सृजन में बहुत कुछ नितांत अप्रत्याशित सत्यों का साक्षात्कार भी करता है। अब, इन रचनाओं या सर्जनों में विज्ञप्त विषय निश्चय ही विज्ञप्ति से 'बाह्य' ही होता है, बल्कि इनमें सत् विज्ञप्ति नहीं होती बल्कि विज्ञप्त ही होता है, जब और जहाँ तक वह होता है। एक कवि या चित्रकार की कल्पना उतनी ही सत्य होती है जितनी वह अतिवैयक्तिक और अतिक्रांत अर्थों का, जो अर्थ विज्ञप्ति से बाह्य ही होते हैं, साक्षात्कार कर पाती है। अब, ये अर्थ बाह्य होने पर भी अचिद् नहीं होते जैसे ऐन्द्रिक विज्ञप्तियों के अर्थ समझे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



जाते हैं कि वे अचिद् होते हैं, क्योंकि ये चेतना की ही अभिव्यक्तियाँ होते हैं। केवल ये व्यक्ति-चित्त की विज्ञप्तियाँ नहीं होते, जैसे कपोलकल्पनाएँ, स्वप्न या दिवास्वप्न होते हैं। परमाणु से नक्षत्र-मंडल तक में, और एककोशीय देहों से मानव-देह तक में एक संरचना, एक ऋत, एक आवयविकता और लय-छन्द दिखायी देता है, वैसा ही जैसा किसी कवि की कविता में, किसी गायक के गान में, या किसी चिन्तक के सिद्धान्त या विचार में। इनके तत्त्व या सत्य को स्वयं कवि, विचारक या गायक कहाँ तक जान और समझ पाते हैं यह दूसरी बात होती है। ये उन्हें समझने में नितान्त भ्रान्त हों, यह भी सम्भव होता है। किन्तु इस 'बाह्यता' से इनकी चिदात्मता सन्देहास्पद नहीं बनती। यही बात परमाणु आदि के सम्बन्ध में है। इनके विज्ञप्ति-विषय या वैज्ञानिक सिद्धान्त-विषय होने से इनकी चिद्-बाह्यता सिद्ध नहीं होती, केवल व्यक्ति-चित्त-बाह्यता सिद्ध होती है।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि कल्पित या वैचारिक के विपरीत भौतिक की 'बाह्यता' लाक्षणिक अर्थ में नहीं होती, यह वास्तविक देश में होती है। यह सही है, किन्तु देश का अस्तित्व भी चेतना से बाहर कहीं दृष्टिगत नहीं होता। यदि देश स्वरूपतः चेतना से बाहर और स्वतंत्र हो तो भौतिक वस्तुओं की कल्पना और उनका स्वप्न में दर्शन सम्भव नहीं हो सकता। हम स्मृति और स्वप्न में भी घट-पट आदि को देश में ही देखते हैं। इससे सिद्ध है कि देश के लिए उसका 'बाहर देश में होना' आवश्यक नहीं है। काँट ने देश को ऐन्द्रिक विज्ञप्तियों का चित्कल्पित अधिष्ठान (अ प्रायराई फोर्म ऑफ इन्ट्यूशन) कहा है। किन्तु वास्तव में यह ऐन्द्रिय विज्ञप्ति का ही प्रागनुभविक आकार (चित्कल्पित अधिष्ठान) सिद्ध नहीं होता, यह तद्वत् कल्पना का आकार भी सिद्ध होता है।

यहाँ एक और पक्ष है जो ध्यातव्य है। जैसाकि हमने आरम्भ में देखा, आत्मचेतन चेतना ज्ञान और सत् में विभक्त होकर सत् को अपने से बाहर, पृथक् स्थापित कर उसमें अवगाह्य, विवेच्य और आलोच्य अर्थों का आधान करती है। इसे तमसाच्छन्न चित्सत् में प्रकाश का आविर्भाव भी कह सकते हैं। द्रष्टव्य है कि मुख्य भारतीय दर्शन-संप्रदायों ने इसे चित् का तमसावृत होना कहा है। वसुबन्धु बाह्य अर्थों को उनकी भौतिक वस्तुता में ही नहीं, उनके अवभासन में भी असत् कहते हैं और तदनुरूप ग्राह्य-ग्राहक भाव को, जो चेतना के आत्मचेतन होने का प्रथम और अनिवार्य चरण है, अविद्यामूलक कहते हैं। किन्तु जैसाकि हमने देखा, चेतना का ग्राह्य-ग्राहकत्व में यह विभाजन चेतना की आत्मोपलब्धि की, प्रत्यङ्मुख उत्क्रमण की, अपने में तमसाच्छन्न सत् के प्रकाशन की अनिवार्य पूर्वापेक्षा है। वैसे चेतना इस विभाग



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



के बिना भी अपने को रचती रहती है—विभिन्न कक्षाओं में घूमते इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन आदि अवयवों के अवयवी परमाणुओं के रूप में और उनके संघातों से रचित विभिन्न भौतिक रूपों और उनके गति-छन्द में, तथा जैव देहों के रूप में और इन जीवों की भोग-शोक में निष्पन्न चर्याओं के रूप में। इस चेतना के आत्मचेतन होने पर यह सब चित्सत् अपने लिए प्रकाशित और जिज्ञास्य हो जाता है और उसके बिना यह चित् भौतिक रूप में अप्रकाशित या जैव रूप में ईषत्-प्रकाशित पड़ा रहता है। चेतना का आत्म-चेतन रूप में यह प्रतिफलन विषय-भाव से निवृत्ति से होता है, यद्यपि जिज्ञास्य इसमें विषय ही रहता है। उदाहरण के लिए जैव स्तर पर भोजन आस्वादमय होता है। इस भोजन का स्वाद कैसा है, यह वहाँ विवेच्य नहीं हो सकता। 'भोजन का स्वाद कैसा है' यह जानने के लिए खाने वाले को खाने से ही नहीं, विषय-प्रवृत्ति मात्र से तटस्थ होकर अपने संवेद पर, फिर उसके गुण पर, ध्यान केन्द्रित करना होता है, जो ध्यान विशेष संवेद को उसके सामान्य में प्रतिबिम्बित करता है और इस सामान्य से विशेष को उद्भासित करता है। चेतना की यह वृत्ति भौतिक विज्ञानी में और भी उत्तानित देखी जा सकती है—जब वह भौतिक को जानने के लिए उस संवेद-गुण का भी अपसारण कर देता है जो गुण चेतना के सहज भाव में उसके लिए भौतिक का प्रथम और अन्तिम प्रमापक होता है और केवल मध्य में भौतिक अस्तित्व की बाह्यता के विकल्प को अवकाश देता है। रूप का अवभासन या विज्ञप्ति वस्तु-विकल्प की हेतु और वस्तु के लिए प्रमाण बनती है और वह वस्तु वास्तव में वहाँ है इसकी पुष्टि दूसरी वास्तव या सम्भाव्य विज्ञप्तियों से होती है। निश्चय ही विज्ञान भी इस विकल्प का प्रमाण संवेद को ही बनाता है किन्तु यह संवेद अब विकल्प का अनुगामी और उससे निर्दिष्ट होता है, उसका कोई स्वलक्षण या स्वतंत्र प्रमाण नहीं होता। किन्तु वैज्ञानिक आज इस विकल्पमूल की बाह्यता से इतना अभिभूत है कि उसने स्वयं विकल्प को भी भौतिक बाह्यता को ही समर्पित कर दिया है : वह कम्प्यूटर का आविष्कार कर अपने को उससे अभिन्न मान रहा है। किन्तु जिन भावनाओं, विचारों, कर्मों और अभीप्साओं को वह मस्तिष्क-यंत्र से कारित मान रहा है वे उसकी इस खोज से पूर्व और स्वतंत्र रूप से ही विदित होते हैं और उनका मस्तिष्क-यंत्र से सम्बन्धित होना और इस सम्बन्ध के प्रमाणीकरण के लिए उनका इस सम्बन्ध से स्वतंत्र रूप से विदित होना आवश्यक होता है, यह देखने से वह इन्कार करता है। जब हम कुछ देखते हैं तब चक्षु-यंत्र में कुछ क्रियाएँ भी घटित होती हैं। किन्तु वे क्रियाएँ हमारे रूप-दर्शन की हेतु होती हैं, इसके लिए पहले रूपों का दर्शन होना और स्वयं उन क्रियाओं का भी दृष्ट होना आवश्यक होता है, और इसके अतिरिक्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



आवश्यक होता है इन दो में एक सिद्धान्त के निष्कर्ष रूप में सम्बन्ध स्थापित करना। अब, ये तीनों ही बातें यंत्र-कोटिक नहीं हो कर चेतना-कोटिक हैं। किन्तु इस सब से आधारभूत महत्त्व की बात इस यंत्र का होना है, जिसके होने के लिए किसी प्रयोजन का होना आवश्यक है, जिसके बिना कोई वस्तु यंत्र नहीं हो सकती। कार का होना किसी के पैदल चलने की थकान से बचने और गन्तव्य स्थान पर जल्दी पहुँचने की उद्विग्नता को पूर्वापेक्षित करता है न कि यह उद्विग्नता और प्रयोजन कार के होने को। यही बात न केवल जैव देहों के सम्बन्ध में सही होनी चाहिए बल्कि भौतिक संरचनाओं के लिए भी सही होनी चाहिए। ऐसी युक्तियों को मानवत्वारोपणपरक (एंथ्रोपोमोर्फिज़्म) कह कर झुठलाया जाता है, किन्तु यह केवल इस शब्द को निन्दात्मक मूल्य देना है, कोई युक्ति देना नहीं है। स्वयं से कोई वस्तु यंत्र रूप में संरचित होती नहीं देखी जाती और कोई संरचना प्रयोजनपूर्वक हुए बिना यंत्र नहीं कही जा सकती, फिर प्राणि-देहों जैसे अत्यधिक जटिल और कुशल यंत्रों और नीहारिकाओं जैसी कुशल संरचनाओं की तो बात ही क्या है। और फिर, सम्भव है चिड़िया के घोंसला बनाने और उसकी मस्तिष्क-रचना में वैज्ञानिक कोई सम्बन्ध खोज भी सके, किन्तु किसी मस्तिष्क की रचना देखकर कोई वैज्ञानिक यह निगमित नहीं कर सकता कि वह प्राणि घोंसला बनायेगा। मनुष्य के विचार, विवेक, भावना और प्रतिभा के निगमन की तो बात ही क्या उसके आगमनात्मक अनुमान की बात भी अकल्पनीय है। इसके विपरीत, यह समझने में कोई कठिनाई नहीं दिखती कि चेतना विचार, भावना आदि के रूप में अपनी अभिव्यक्ति के लिए भौतिक का जैविक में रूपान्तरण करती है और फिर जैव उपादान से देह-यंत्र की रचना करती है। यदि किसी को ब्रह्माण्डीय स्तर पर कर्त्तृत्व की कल्पना करना अतिचार लगे तो रूपान्तरण और रचना की इस प्रक्रिया को कर्त्तृत्व की पदावली के बिना भी कहा जा सकता है। कहा जा सकता है कि "चेतना के इन रूपों में व्यक्त होने के निमित्त से भौतिक का जैविक में रूपान्तरण घटित होता है और तब जैविक यथोपयुक्त देह-यंत्र रूप में रचित होता है।" किन्तु सम्भवत: यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि "यह विराट् आयोजन कैसे घटित हुआ यह हमारी कल्पना के लिए अगम्य है, किन्तु उसके लिए कर्त्तृत्व की पदावली का उत्प्रेक्षात्मक प्रयोग सम्भवत: अधिक उपयुक्त हो सकता है बजाय यांत्रिक पदावली के प्रयोग के।" किन्तु जो बात निश्चित रूप से कही जा सकती है वह यह है कि भौतिक जगत् एक अद्भुत रचना, व्यवस्था और नियम को व्यक्त करता है जिसे वैदिक ऋषियों ने ठीक ही 'ऋत' की संज्ञा दी थी। अन्यथा परमाणुओं के अवयवभूत कण अपनी कक्षाएँ छोड़कर बिखर भी सकते थे, ग्रह-नक्षत्र अपनी कक्षाएँ छोड़कर एक-दूसरे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



पर गिर सकते थे या एक ही पिंड बन सकते थे। या यह जगत् अनादिकाल से ऐसे ही होता—बिना किसी नियम और व्यवस्था के, और इस प्रकार सारे आकाश में केवल गैस ही होती या केवल धूल ही होती, यह सम्भव ही था। विभिन्न जीव जातियों में व्यवस्थित हैं, प्रत्ययात्मक सामान्यों के विशेष उदाहरणों के जैसे। ये जीव जीने की अदम्य कामना से परिचालित हैं किन्तु तब भी मरते हैं। किन्तु उनसे अन्य व्यष्टियों की उत्पत्ति इस मृत्यु को मानो आत्मनवीकरण के उपाय का रूप दे देती है। और ये मृत्यु और जन्म भौतिक कारण-कार्यता से नितान्त भिन्न उद्भावना के द्योतक हैं। इस व्यवस्था में कारण कार्य को मात्र उत्पन्न नहीं करता, जिस उत्पत्ति को प्रतीत्यसमुत्पाद मात्र भी कहा जा सकता है, बल्कि इसमें यह भोग-सुख और वात्सल्य से भी अन्तर्निविष्ट हो जाता है और इस प्रकार इसमें एक नितान्त नवीन 'विचार', नितान्त नवीन 'बुद्धि' अपनी क्रियान्विति साधती दिखायी देती है। जीवों का यह जगत् जबकि अन्यथा यंत्रवत् चलता दिखायी देता है, इसमें 'आत्मरक्षा' और 'आत्मसंवर्धन' का 'एक-दूसरे की भोज्यता' और 'प्राकृतिक क्षय' से बाध और 'भोग' का 'शोक' से बाध एक सर्वथा नवीन 'बुद्धि' को प्रदर्शित करते हैं, जो इन्हें सम्भवत: जैव विकास के हेतु के रूप में व्यवस्थित करती है।[1] यह बुद्धि या विचार प्राणियों की अपनी चेतना के स्तर पर यांत्रिक रूप से उपचरित ही दिखायी देता है, किन्तु इन क्रियाओं में अद्भुत कौशल, अपार वैविध्य और इस सब में संवेद का अन्त:संचार अपने मूल में यांत्रिक नहीं हो सकते। अनेक कृमि-जातियों में अद्भुत समूह-व्यवस्था और तदनुसार छत्ता, बाँबी आदि निवास-रचनाएँ, भोजन और आत्मरक्षा के उपायों की असंख्य प्रकारक योजनाएँ और उनके क्रियान्वयन में स्तब्धकारी कौशल निश्चय ही उन प्राणियों की चेतना में यांत्रिकतया ही घटित होते प्रतीत होते हैं, किन्तु ये यंत्र किसी आत्मचेतन प्रत्यय के आत्मचरितार्थन के उपाय नहीं हैं, यह कहना उससे कहीं बड़ा दुस्साहस प्रतीत होता है जितना बड़ा दुस्साहस इन्हें आत्मचेतन उपाय कहना प्रतीत हो सकता है। इसके अतिरिक्त, इस यांत्रिक चेतना में आत्मचेतन होने का अनवरत उपक्रम दृष्टिगोचर होता है, जो यद्यपि मानव-स्तर पर एक उत्प्लुति से पहुँचने जैसा ही प्रतीत होता है किन्तु इस उत्प्लुति के लिए आरोह का एक सुदीर्घ सोपान-क्रम भी दिखायी देता है। अब, मनुष्य की विचार-क्षमता और सदसद्-विवेक-क्षमता को श्वान, वानर आदि की बौद्धिक क्षमताओं के ही जटिलतर रूप कहकर इन्हें भी यांत्रिक सिद्ध करना बजाय श्वान, वानर आदि

---

[1] द्रष्टव्य, यशदेव शल्य — 'मृत्यु-चिन्तन', उन्मीलन, जनवरी, 1998-जुलाई 1998

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



की यांत्रिक प्रकार की क्षमताओं को मानवीय आत्मचेतन और सृजनात्मक प्रकार की क्षमता में अपनी मुक्ति खोजने के दुर्धर्ष प्रयत्न के रूप में देखने के, केवल एक दुराग्रह ही कहा जा सकता है।

जैसाकि हमने पीछे देखा, चेतना के आत्मचेतन स्तर पर आरोहन की प्रथम सिद्धि अहंकार से अतिक्रमण के रूप में उपलब्ध होती है, क्योंकि इसमें व्यष्टि-विषयी अपने को अन्य व्यष्टि-विषयियों से समस्तर देखता है। भाषा इसमें उपकरण बनती है। किन्तु चेतना की यांत्रिक स्तर से मुक्ति का नितान्त निश्चित चरण धर्माधर्म-विवेक और अध्यात्म-साधना में उठा मिलता है, यद्यपि काव्य और कलाएँ भी इसी दिशा में गति का अग्र-चरण कही जा सकती हैं, क्योंकि इनमें चेतना अपनी प्राकृतिक वृत्ति : विषयता : से परावर्तित होकर स्वयं विषयिता का विमर्श करती है जबकि धर्माधर्म-विवेक में चेतना अपने को बाह्योन्मुखता से परावर्तित कर अपने कर्म का निकष आत्मस्वरूप को बनाती है। अध्यात्मसाधना इस आत्मस्वरूप के साक्षात्कार की ही साधना है जो चेतना का जगत् से बाहर अपनी निजता में ही अपने निलय का संधान है। यह सम्भव है कि इस सबके लिए हमारे मस्तिष्क में यंत्र-व्यवस्था भी हो, किन्तु वैज्ञानिक इसका अनुमान केवल मस्तिष्क के किसी भाग के हटने और इस बोध के मिटने में सम्बन्ध-कल्पना के द्वारा ही कर सकते हैं। किन्तु 'मस्तिष्क का क्षय होने से विचार, विवेक आदि का क्षय हो जाता है' यह तो मनुष्य को बहुत समय से पता है, विज्ञान ने इस ज्ञान में मूलतः नया क्या जोड़ा है? विज्ञान ने केवल यह जोड़ा है कि इसके कारण कुछ लोग मस्तिष्क-यंत्र और विचार-विवेक आदि के भेद को देख पाने में असमर्थ हो गए हैं। किन्तु यहाँ आधारभूत महत्त्व की बात यह है कि यदि समस्त प्राणि-व्यवहार और मानवीय विचार मस्तिष्क-यंत्र में अपचेय हो तो भी इससे आधार तत्त्व भौतिक सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यंत्र को विचार की अभिव्यक्ति, अथवा कहें विचार की अन्तर्वस्तु, के रूप में ही समझा जा सकता है, किसी शुद्ध भौतिकता के रूप में नहीं, जो एक नितान्त उद्ग्रहणात्मक कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

---

• भारतीय उच्चतर अध्ययन संस्थान, शिमला में 8-10 सितम्बर, 2000 को 'विज्ञान और चेतना' विषय पर आयोजित परिसंवाद में प्रस्तुत।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# गीता के सन्दर्भ में कर्म, ज्ञान एवं मूल्य-बोध

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

कर्म के क्षेत्र में 'मूल्य' से उस लक्ष्य का बोध होता है जो वांछनीय है, कर्त्तव्य है तथा आदर्श है। यद्यपि 'मूल्य' शब्द का प्रयोग हमें अंग्रेज़ी के 'वैल्यू' शब्द के अनुवाद के रूप में प्राप्त हुआ, किन्तु उससे अभिप्रेत अर्थ हमारे लिए अजनबी नहीं है। 'आदर्श', 'पुरुषार्थ' जैसे प्रयोग 'मूल्य' के प्रयोग के स्थानापन्न हो सकते हैं। इस लेख में 'मूल्य' शब्द का प्रयोग इसी रूप में होगा। इस लेख में यह देखने का प्रयास है कि **गीता** में ज्ञान तथा कर्म के परिप्रेक्ष्य में मूल्य की जो उद्‌भावना उभरती है वह क्या है। इस सन्दर्भ में क्रमशः ज्ञान तथा कर्म के विषय में गीता में उपलब्ध अवधारणाओं के निर्वचन का प्रयास होगा।

यदि हम यह प्रश्न उठाएँ कि गीता में किन्हीं अवधारणाओं का सैद्धान्तिक आधार अथवा सन्दर्भ क्या है, तब उसका एक उत्तर हमें त्रिगुणात्मक व्यवस्था के रूप में मिलता है। दूसरा सन्दर्भ वह है जो गुणातीत है। इन दोनों सन्दर्भों को किसी एक व्यवस्था में कैसे ग्रहण किया जाये यह गीता का योगदान प्रतीत होता है। परन्तु, यह व्यवस्था अनेक प्रश्नों को जन्म देती है, जो इस लेख में नहीं उठाये जायेंगे।

सर्वप्रथम यह देखें कि त्रिगुणात्मक दृष्टि से ज्ञान का निरूपण किस प्रकार हुआ है। सब भूतों (जगद्‌गत वस्तुओं) में एक अनश्वर तथा अखण्ड का दर्शन सात्त्विक ज्ञान कहा गया है। सब भूतों में, उनमें से प्रत्येक की विभिन्नता तथा वैशिष्ट्य को देखना तथा उन्हें अलग-अलग जानना यह राजस ज्ञान है। जो ज्ञान अतात्त्विक तथा अहैतुक होता है तथा जिसमें नित्य-अनित्य का विवेक नहीं होता है, वह तामस ज्ञान है। (18/20-22) इसके पूर्व 14वें अध्याय में परमार्थ ज्ञान को ही ज्ञान कहा गया है। सात्त्विक ज्ञान की यदि विशद व्याख्या की जाय, उसकी विषय-वस्तु को विस्तार से निरूपित किया जाय तब वह निरूपण वैसा ही होगा जैसा हमें 14वें अध्याय में प्राप्त होता है।

ज्ञान के इस त्रिगुणात्मक रूप पर विचार करते समय कुछ बातें ध्यान में आती हैं। कहा जा सकता है कि बहुत कम लोग सात्त्विक ज्ञान के अधिकारी होंगे। इस ज्ञान को आदर्श ज्ञान कहा जा सकता है तथा वह ज्ञान की प्रेरणा का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत हो सकता है। परन्तु इस प्रकार के ज्ञान का रूप क्या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



होगा? ऐसा तो है कि समान अथवा मिलती-जुलती वस्तुओं में हम किसी एक ही रूप को ग्रहण करते हैं। सब जानते हैं इस एक ही रूप को सामान्य की संज्ञा दी जाती है। यह भी सर्वविदित है कि सामान्य को लेकर महत्त्वपूर्ण दार्शनिक बहस है, नामवादी सामान्य की अवधारणा को अग्राह्य मानते हैं।

परन्तु सामान्य की अवधारणा हमें मिलती-जुलती वस्तुओं की किसी एक कोटि का परिचय देती है। अन्य कोटियों से अन्य सामान्य सम्बन्धित होंगे। क्या इन विभिन्न कोटियों के सामान्यों को किसी एक सामान्य के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है? स्मरण करें तो प्लेटो का कुछ ऐसा ही ख्याल था। पर प्लेटो की अवधारणा तथा लॉक जैसे अनुभववादियों की अवधारणा के बीच एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। अनुभववादियों की दृष्टि से विभिन्न मिलती-जुलती वस्तुओं के प्रत्यक्ष के फलस्वरूप उनके समान गुणों पर ध्यान देने से हमें सामान्य का बोध होता है। इसके विपरीत प्लेटो का मानना था कि सामान्य के बोध के कारण ही हमें भिन्न वस्तुएँ मिलती-जुलती लगती हैं तथा हम किसी वस्तु को किसी कोटि विशेष के सदस्य के रूप में पहचानते हैं।

गीताकार के मत को ध्यान में रखें तब सात्त्विक ज्ञान से विशेषों में सामान्य के दर्शन को एक विशिष्ट रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। इस विशिष्ट रूप में सामान्य तत्त्व मात्र जीवनमीमांसीय उपलब्धि नहीं है। वह एक ऐसा तत्त्व है जिसके कारण किसी विषय/वस्तु का अस्तित्व है, या यूं कहें कि विशिष्टों में 'एक' के अतिरिक्त शेष जो कुछ है वह निस्सार है। गीता में ऐसे तत्त्व को परम ब्रह्म कहा गया है (14/12)। परम ब्रह्म, परमात्मा तथा स्वयं कृष्ण एक ही सत् के परिचायक हैं। 'सभी वस्तुओं अथवा भूतों में परम ब्रह्म को देखना', इसको कैसे समझें? 5/18 में कहा गया है कि ज्ञानी जन विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल सबको समभाव से देखने वाले होते हैं। ऐसी स्थिति में पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए यह भी कहा गया है कि वह अपने को अकर्त्ता समझे, भले ही वह साधारण जीव की भाँति देखता-सुनता हो, सोता-बोलता हो। (5/8-9) निश्चय ही यह अवस्था विशेषों में सामान्य को देखने से भिन्न है।

अर्जुन की भाँति यह पूछा जा सकता है कि ऐसा ज्ञानी कैसे उठता-बैठता है, कैसे चलता फिरता है, दूसरों के प्रति उसका व्यवहार कैसा होता है? आदि। अन्य शब्दों में, सात्त्विक ज्ञान से युक्त व्यक्ति की बाहरी पहचान क्या है? वस्तुतः अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में जिन विशेषताओं की ओर संकेत किया गया है वे व्यक्ति के स्वयं के अनुभव से सम्बन्धित हैं—यथा आत्मा का आत्मा में ही सन्तुष्ट होना, उद्वेगरहित होना, जिसके राग, भय, क्रोध नष्ट हो गए हैं तथा सुख-प्राप्ति के लिए जिसमें कोई स्पृहा नहीं है। ये सब भीतरी स्थितियाँ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



हैं। (2/54 तथा आगे) एकमात्र बाहरी लक्षण यह बताया गया है कि ऐसा स्थिर बुद्धि व्यक्ति न तो शुभ वस्तु को प्राप्त कर प्रसन्न होता है और न अशुभ वस्तु को पाने पर अप्रसन्न।

**गीता** अथवा **महाभारत** के सन्दर्भ में ही यह प्रश्न उठता है कि स्थिर बुद्धि अथवा समत्व बुद्धि से युक्त, सब भूतों में एक परम ब्रह्म का दर्शन करने वाला अर्जुन युद्ध में कैसे प्रवृत्त होगा? युद्ध में ही नहीं किसी भी कर्म में कैसे प्रवृत्त होगा? ऐसा प्रतीत होता है कि सात्त्विक ज्ञान का उपदेश अर्जुन को उस चिन्ता तथा उद्विग्नता से मुक्त करने के हेतु था जिसके कारण वह रथ के पीछे जा बैठा था। परन्तु क्या चिन्ता एवं विषाद से मुक्त होना ही कर्म में प्रवृत्त होने के लिए तत्पर होना है?

शायद यह कहा जाय कि कुशल कर्म के लिए चिन्ता तथा विषाद से मुक्त होना आवश्यक है। यदि अर्जुन को उठना है और लड़ना है तो वैसा करने के नियम भी पालने होंगे। वह यह नहीं कर सकता कि तीर यदि भीष्म के मारना है तो वह युधिष्ठिर को निशाना बनाये। उसे भीष्म तथा युधिष्ठिर को अलग-अलग, एक दूसरे से भिन्न रूप में देखना होगा। यह वह उस अवस्था में नहीं कर सकता जिसमें भीष्म तथा युधिष्ठिर के प्रति समभाव हो, अथवा दोनों को किसी एक रूप की अभिव्यक्ति समझा जाय।

सात्त्विक ज्ञान तथा कर्म को लेकर इस प्रश्न को कुछ समय के लिए स्थगित रखते हुए कर्म के विषय में गीता के विचारों को देखें। गीता में ज्ञान की भाँति कर्म को भी त्रिगुणात्मक व्यवस्था में निरूपित किया गया है।

जो कर्म बिना राग-द्वेष के, फल को न चाहते हुए किया जाये, जो नियत एवं संग-रहित हो, उसे सात्त्विक कर्म कहा जाता है। बहुत आयास से तथा काम (इच्छा) से प्रेरित, अहंकार-सहित जो कर्म किया जाये वह राजस कहा जाता है। जिस कर्म को करने में परिणाम, हानि, हिंसा आदि का विचार न हो तथा जो मोहवश आरम्भ किया गया हो, वह कर्म तामस कर्म कहलाता है। (18/23-25) इस वर्गीकरण के प्रकाश में कर्म की अवधारणा को समझने के पूर्व कर्त्ता को लेकर जो त्रिगुणात्मक वर्गीकरण हुआ है उसका उल्लेख भी अपेक्षित है।

वह कर्त्ता जो संग एवं अहंकार से मुक्त है, धृति तथा उत्साह से युक्त है, सिद्धि-असिद्धि-जनित विकारों से रहित है, ऐसे कर्त्ता को सात्त्विक कर्त्ता कहा जाता है। राग से युक्त कर्मफल की कामना रखने वाला, हिंसक वृत्ति वाला, अशुद्धाचारी, हर्ष-शोक से प्रभावित जो होता है, ऐसा कर्त्ता राजस कहा जाता है। जो विक्षेपयुक्त चित्त वाला, अशिक्षित, घमण्डी और धूर्त होता है, दूसरों की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



जीविका में बाधा डालने वाला, विषादी, आलसी तथा दीर्घसूत्री होता है, वह तामस कर्त्ता कहलाता है। (18/26-28)

कर्म तथा कर्त्ता का सात्त्विक दृष्टि से जो निरूपण हुआ है, वह किसी सीमा तक समभाव एवं स्थिर बुद्धि की अवधारणाओं से संगति रखता है। परन्तु कर्त्ता की सात्त्विक विशेषताओं में धृति तथा उत्साह का समावेश दर्शाता है कि कर्त्ता के सांवेगिक पक्ष को पूरी तरह से नकारा नहीं गया है। राजस कर्म में बड़े परिश्रम की बात करने से लगता है कि श्रम तो सात्त्विक कर्म में भी होगा। सात्त्विक कर्म में वह उपयुक्त मात्रा में ही होगा। दूसरे शब्दों में, राजस कर्म में कर्त्ता अति उत्साही तथा व्यर्थ की भागदौड़ करता है। इस उत्साह तथा तीव्रता में वह दूसरों के प्रति हिंसा भी करता है। स्पष्ट है कि इस अवस्था में उसका अहंकार सक्रिय होता है। सात्त्विक कर्त्ता के विपरीत वह नियमों की परवाह भी नहीं करता तथा उसका व्यवहार अशुद्धाचारी होता है। फल की कामना उसे हर्ष-शोक की ओर भी ले जाती है। तामस कर्म में सोच-विचार का अभाव ही नहीं होता अपितु वह मोहग्रस्त भी होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि तामस कर्त्ता या तो काम करना ही नहीं चाहता या उसे टालता रहता है, या फिर वह परजीवी होता है।

18/18 से ज्ञान तथा कर्म के सम्बन्ध के विषय में पता चलता है। वहाँ ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता का उल्लेख कर्म की प्रेरणा के स्रोत के रूप में हुआ है। कर्त्ता, करण तथा कर्म को कर्मसंग्रह में गिनाया गया है। इस श्लोक से एक तो इस सहज तथ्य की ओर संकेत मिलता है कि विषय (ज्ञेय) को जाने (ज्ञान) बिना उसमें अथवा उसके लिए कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती। ज्ञेय तथा ज्ञान की चर्चा ज्ञाता के बिना कैसे हो सकती है? दूसरी ओर प्रवृत्ति होने पर ज्ञाता कर्त्ता रूप धारण करता है। कर्त्ता के रूप में उसे कर्म के निमित्त करण की आवश्यकता भी होगी। इस प्रकार कर्म के सन्दर्भ में जिस संग्रह की अपेक्षा होती है वह इस श्लोक में परिगणित हो गया है। पाठक कहेंगे कि इस संग्रह में लक्ष्य अथवा उद्देश्य की बात तो आई ही नहीं! तो ऐसा नहीं है, क्योंकि ज्ञेय अथवा विषय ही कर्म के लक्ष्य के रूप में उपस्थित होता है।

यह भी कहा जा सकता है कि करण तथा लक्ष्य के मध्य जो सम्बन्ध होता है उसे भी ज्ञान के अन्तर्गत लेना चाहिए। कर्म में प्रवृत्त होने के पूर्व तक की अवस्था जिसमें अनेक सोपान हो सकते हैं वे सब मोटे रूप में ज्ञान के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। प्रवृत्त होने के ठीक पहले संकल्प की अथवा एक निर्णयात्मक अवस्था की ओर भी संकेत किया जा सकता है।

कर्म तथा ज्ञान से उसके सम्बन्ध के विषय में इस संक्षिप्त चर्चा के बाद उस प्रश्न पर वापस आ सकते हैं जो सात्त्विक ज्ञान तथा कर्म के सन्दर्भ में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



पीछे उल्लिखित हुआ है। यदि किसी को सात्त्विक ज्ञान प्राप्त है, अर्थात् वह सब भूतों में किसी एक को ही देखता है, जो समभाव तथा स्थिर दृष्टि है, ऐसा व्यक्ति किसी कर्म में प्रवृत्त क्यों होगा और यदि वह कर्म में प्रवृत्त होता है तब क्या वह भेद-बुद्धि के बिना किसी भी कर्म को सम्पन्न कर सकता है? भेद-बुद्धि हमें राजस ज्ञान से जोड़ती है। परन्तु राजस ज्ञान, राजस कर्म तथा राजस कर्त्ता के सन्दर्भ में कुछ ऐसी विशेषताओं की चर्चा भी हुई है जो अवांछनीय हैं, जो सत्त्वगुण की कोटि से विरोध रखती हैं। ऐसी अवस्था में राजस ज्ञान बिना परिष्कार के स्वीकार्य नहीं हो सकता। परन्तु यदि राजस ज्ञान को केवल नानात्व के दर्शन तक भी सीमित रखें तब भी उसमें एवं तात्त्विक ज्ञान में विरोध रहता है।

तब क्या कोई ऐसी अवस्था हो सकती है जिसमें सात्त्विक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ही कर्म की अपेक्षाओं की पूर्त्ति हो सके? अन्य शब्दों में, क्या यह सम्भव है कि भीष्म तथा युधिष्ठिर में एक ही सत् का प्रत्यक्ष करते हुए शर-संधान का विषय भीष्म हों, युधिष्ठिर नहीं? यहाँ पुनः क्रम को तोड़ कर इस बात पर ध्यान देना होगा कि विषाद-योग के निराकरण हेतु अर्जुन को तत्त्वोपदेश देना क्यों आवश्यक हुआ होगा? विशेषकर आत्मा के स्वरूप की चर्चा की कर्म के सन्दर्भ में क्या प्रासंगिकता है?

अन्य युक्तियों के साथ अर्जुन को जो बात त्रास दे रही थी वह युद्ध का रक्तपात तथा निकटवर्तियों की सम्भाव्य मृत्यु थी। तब शायद यह बात प्रासंगिक हो जाती है कि मृत्यु के रूप को समझा जाये। गीताकार के अनुसार मृत्यु देहान्त अथवा देह-परिवर्तन के अवसर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दूसरे, देहान्त एक अनिवार्य अन्त नहीं है। जिस मूल्य-परिप्रेक्ष्य का गीता में अंकन हुआ है उसमें देह की सत्ता नैमित्तिक है, उसका कोई आत्यन्तिक मूल्य नहीं है। हमारे शोक का केन्द्र होता है देह के प्रति आसक्ति, फलतः उसके अन्त या नाश की कल्पना प्रमुख रूप में दुःख देने वाली होती है। यह भी सही है कि देह के न रहने पर संसार की गतिविधि, यहाँ तक कि उसकी सत्ता का भी कोई महत्त्व नहीं होता। यह मानते हुए भी यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वह अन्तिम अथवा परम सत्य नहीं है।

मृत्यु के त्रास से मुक्त होने के लिए एक ओर यह समझना आवश्यक है कि देह नश्वर है और यह नश्वरता अपरिहार्य है, तथा दूसरी ओर यह आत्मसात् करना भी आवश्यक है कि व्यक्ति में एक ऐसा तत्त्व भी है जिसका कभी नाश नहीं होता, जिसका कोई नाश नहीं कर सकता, जिसके नाश के लिए किसी साधन/उपकरण का उपयोग नहीं हो सकता, जिसका देह के साथ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



जो रिश्ता है वह अस्थायी है, देह के कारण एक जीव दूसरे जीव से भिन्न है तथा आत्मा की दृष्टि से एक जीव दूसरे जीव से अभिन्न है।

देह-आत्मा के विषय में उपर्युक्त बिन्दुओं के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। देह नश्वर है तथा आत्मा अनश्वर, तब कौन किसका नाश करता है? उत्पन्न होना, बने रहना तथा नष्ट होना, एक का दूसरे को नष्ट करना अथवा एक का दूसरे को किसी प्रकार का सहयोग देना, यह सब, गीता के अनुसार त्रिगुणात्मक जगत् में ही होता है। देहरूपी जीव अन्य देह-रूपी जीव का नाश कर सकता है, अथवा वह उसे किसी प्रकार का योग दे सकता है। गुणातीत आत्मा तो न मरता है, न मारता है। इस प्रकार जीव में स्थित आत्मा तो वास्तव में कर्त्ता नहीं है। तब कौन किसके लिए दुःखी हो रहा है? होता है?

देह, आत्मा तथा संसार की त्रिगुणात्मकता को समझ लेने पर, गीता के अनुसार, उन सभी मनोदशाओं से मुक्ति मिल सकती है जो किसी न किसी रूप में दुःख, विषाद एवं उद्विग्नता का कारण बनती हैं। एक दूसरे रूप में गीता में यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि मनोदशाओं से मुक्ति सुखद अवस्थाओं के प्रति तटस्थता में बदल जाती है। ऐसी स्थिति में ही समभाव एवं स्थिर बुद्धि सम्भव हो सकते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि कर्म सम्भव हो, कुशल कर्म सम्भव हो, इसके लिए किन्हीं मनोदशाओं से मुक्त होना आवश्यक है। विशेषकर विषाद अथवा चिन्ता की अवस्थाएँ कर्म में व्यवधान का काम ही करती हैं। दूसरी ओर अति प्रसन्नता की अवस्था भी कुशल कर्म में बाधक हो सकती है। अन्य शब्दों में, सांवेगिक रूप में अनावश्यक रूप से अस्थिर होना हमारे ज्ञान तथा कर्म दोनों को अवांछित रूप से प्रभावित करता है। इस अस्थिरता से बचने के लिए, 'क्या होगा — क्या नहीं होगा' जैसी चिन्ता से अलग रहना आवश्यक है।

परन्तु एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यहाँ यह उठता है कि अकर्त्ता होने के भाव के साथ उत्तरदायित्व के भाव की रक्षा कैसे हो? यदि कर्म गुणों का गुणों में प्रवर्तन है, यदि व्यक्ति स्वयं कुछ नहीं करता क्योंकि कर्त्ता या तो स्वयं कृष्ण हैं अथवा गुणातीत सन्दर्भ में कोई भी कर्त्ता नहीं होता, तब जो कुछ कर्म के रूप में घटता है उसकी मीमांसा/समीक्षा कैसे होगी? कर्म-फल की व्यवस्था क्या तब निरर्थक नहीं हो जायेगी? सदाचारी-दुराचारी का भेद किस प्रकार कर पायेंगे? स्वयं गीता में वर्णित दैवी तथा आसुरी स्वभाव में भेद का क्या औचित्य रहेगा? यदि उत्तरदायित्व की अवधारणा को नहीं माना जाये तब कोई दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ और कोई आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुआ, ऐसा कैसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



कह सकेंगे? और यदि कर्त्ता-भाव को स्वीकार नहीं करें तब उत्तरदायित्व की बात भी कैसे कर सकेंगे?

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरदायित्व, कर्म का मूल्यांकन, तथा इनके आधार पर व्यक्ति को किसी विशेषण से विभूषित करना, इन सब के लिए गीता के परिप्रेक्ष्य में स्थान है। जैसा हमने पहले देखा, स्वयं गीता में तीन प्रकार के कर्त्ताओं का उल्लेख हुआ है जो वस्तुत: उनके ज्ञान तथा उनके व्यवहार की अवस्थाओं पर ही आधारित हैं। और यह इंगित करने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि कृष्ण अर्जुन को समझा रहे हें, उसे उपदेश दे रहे हैं, उसे युद्ध में प्रवृत्त करने का प्रयास कर रहे हैं। तब यह अर्जुन कौन है? क्या वह मात्र आत्मा या मात्र गुणों का संघात है? या कि वह अलग-अलग दोनों है? समभाव तथा स्थिर बुद्धि एक ओर और शर-संधानी दूसरी ओर?

इन प्रश्नों का समाधान खोजने के प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि त्रिगुणात्मक व्यवस्था में कोई भी गुण अपने नितान्त शुद्ध रूप में अथवा अन्यों से पृथक् रूप में नहीं रहता। प्रत्येक अवस्था में तीनों गुणों का मिला-जुला रूप होता है। होता यह है कि किसी अवस्था में कोई एक गुण अन्य गुणों की तुलना में अधिक प्रभावी होता है तो किसी दूसरी अवस्था में कोई अन्य गुण। इस तथ्य से एक निष्कर्ष यह प्राप्त होगा कि जिस व्यक्ति में सात्त्विक ज्ञान अधिक प्रभावी है उसमें अन्य प्रकार के ज्ञान भी होंगे यद्यपि वे या तो कम प्रभावी होंगे अथवा प्रभावहीन। इसका अर्थ यह हुआ कि जो अनेक में एक देखने में समर्थ होगा वह अनेक को पृथक् रूप में भी देख सकता है। वस्तुत: अनेक की अवधारणा को स्वीकार किये बिना इस निर्देश का कोई अर्थ नहीं होगा कि अनेक में एक को देखना चाहिए। इस प्रकार राजस ज्ञान के रहते ही सात्त्विक ज्ञान संम्भव होगा अथवा उसकी प्राप्ति के प्रयास में सार्थकता होगी। यहाँ प्रसंगवश यह भी कहा जा सकता है कि यदि व्यामोह अथवा भ्रम की सम्भावना न हो जो तामस ज्ञान का लक्षण है, तब अनेक का अथवा दो का अलग अलग प्रत्यक्ष अपना महत्त्व खो देगा।

क्योंकि गुणों में गुण प्रवर्तित हैं, तब क्या कर्त्ता-भाव की तरह ज्ञाता-भाव भी त्याज्य है? इस प्रश्न का सरल उत्तर तो यह है कि न तो ज्ञाता की चर्चा त्रिगुणात्मक दृष्टि से की गई है और न ही ज्ञाता भाव को त्यागने का कहीं उल्लेख हुआ है। इसके विपरीत किसी रूप में ज्ञातृत्व को एक मूल्य के रूप में स्वीकृति मिली है। परन्तु यदि ज्ञान के विषय में निर्विषय-ज्ञान तथा सविषय-ज्ञान के भेद को ध्यान में लायें तब ज्ञाता की तद्रूप दो अवस्थाएँ भी परस्पर भिन्न माननी पड़ेंगी। साधारण दृष्टि से निर्विषय-ज्ञान की अवस्था में ज्ञाता ज्ञाता नहीं रह जायेगा। दूसरी ओर परमार्थ दृष्टि से साधारण ज्ञाता ज्ञाता नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



रहेगा, कारण कि उसका ज्ञान सविषय होने से परमार्थ-विरुद्ध होगा। स्पष्ट है कि यह विश्लेषण हमें परम्परा में ठीक इसी रूप में तो प्राप्त नहीं है परन्तु सार रूप से वह परम्परा में अवश्य उपलब्ध है।

त्रिगुणात्मक व्यवस्था की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सात्त्विक ज्ञान से युक्त अर्जुन शत्रु को शर-संधान का लक्ष्य बना सकता है। ऐसा करते समय उसे स्वयं को कर्म का निमित्त मात्र मानना होगा और इस प्रकार वह कर्त्ता-भाव का अहंकार के रूप में त्याग कर सकता है। तब कहा जा सकता है कि समत्व दृष्टियुक्त अर्जुन शर-संधानी अर्जुन तथा अकर्त्ता अर्जुन एक ही अर्जुन की भिन्न तस्वीरें हैं। परन्तु ऐसा मान लेने पर भी उत्तरदायित्व का प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है। अकर्त्ता अर्जुन जो करता है उसके लिए वह उत्तरदायी कैसे हो सकता है? और इस परिप्रेक्ष्य में मूल्य-विचार की भी कोई सार्थकता नहीं रह जायेगी।

गीता के उत्तरार्द्ध की विषय-वस्तु पर गहराई से देखने पर इतना तो निर्विवाद लगता है कि कर्म की जो पूर्वापेक्षाएँ हैं वे गीताकार के ध्यान में पूरी तरह से हैं। न केवल जगत् की वास्तविकता का स्वीकार स्पष्ट है अपितु उसमें अनेक कोटिक सत्ताओं में श्रेष्ठ सत्ता अथवा उत्तम या मूल्य का स्वीकार भी है। जगत् में मनुष्य हैं जो विभिन्न वृत्तियों से युक्त हैं। उनके परस्पर सम्बन्ध सौजन्यपूर्ण भी हैं और विद्वेषपूर्ण भी। उनमें दैवी प्रवृत्तियाँ भी हैं और आसुरी प्रवृत्तियाँ भी। निरन्तर परिष्कार, परिमार्जन तथा उन्नयन का अवकाश भी है। तब यह कैसे हो सकता है कि व्यक्ति अपने कर्म के लिए उत्तरदायी न हो? कोई भी सामाजिक व्यवस्था अथवा धर्म कैसे बने रह सकते हैं, यदि व्यक्ति को उसके कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं मानें? और पुनः, यदि वह कर्त्ता नहीं है तब वह उत्तरदायी भी कैसे हो सकता है? यही नहीं, कर्म-फल व्यवस्था भी कैसे सम्भव होगी?

क्या ऐसा तो नहीं है कि कर्त्ता-भाव तथा अकर्त्ता-भाव व्यक्ति के लक्षण न होकर उसकी दो मनोदशाओं के परिचायक हैं? इस अवस्था में ये मनोदशाएँ स्थायी न होकर अलग-अलग काल-बिन्दुओं पर प्रकट हो सकती हैं। फल की दृष्टि से व्यक्ति स्वयं को अकर्त्ता की मनोदशा में रखे और जब कर्म में प्रवृत्त हो तब वह कर्त्ता की मनोदशा में रहे। इस सन्दर्भ में एक और बिन्दु विचारणीय है।

प्रश्न यह है कि क्या 'कर्त्ता' का आशय इतना ही है कि कोई है जो कर्म करता है? सामान्यतया जब किसी व्यक्ति को किसी कर्म के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है तब क्या कर्म का स्वरूप ध्यान में रखा जाता है? कर्म के अन्तर्गत अनेक घटकों का समावेश होता है। कर्म के बाह्य रूप के अतिरिक्त उसका वह पक्ष है जो कर्त्ता की इच्छा, उसके संकल्प तथा निर्णय के रूप में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



गृहीत होता है, जिसके विषय में अपरोक्ष रूप में केवल कर्त्ता ही जानता है। कर्म के बाहरी रूप में कर्म के सम्पादन की प्रणाली, वे परिस्थितियाँ जिनके बीच कर्म को सम्पादित करने का प्रयास होता है, अन्य व्यक्तियों की भूमिका तथा कर्म के वास्तविक परिणाम (कर्त्ता के लिए तथा परिवेश एवं अन्य व्यक्तियों के लिए) कर्म के घटक माने जा सकते हैं। ये परिणाम कर्त्ता को सुख देते हैं या दुःख, वांछनीय होते हैं या अवांछनीय, उसे समृद्ध बनाते हैं या दरिद्र—इन बातों का समावेश कर्म-फल के अन्तर्गत किया जा सकता है। इच्छा अथवा संकल्प के कारण कर्म को सम्बद्ध कर्त्ता के साथ जोड़ा जाता है। कर्त्ता कर्म को आरम्भ करता है, अब आगे जो कुछ भी होता है उसमें कितना अंश उसके वश में अथवा नियन्त्रण में होता है, यह तो विशिष्ट कर्म के विश्लेषण पर ही स्पष्ट हो सकेगा। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि कर्म के आद्योपान्त क्रम में कुछ ऐसा हो सकता है जो पूर्णतया कर्त्ता के वश में नहीं हो। स्वयं गीता में 'फल-त्याग' का एक कारण यह बताया गया है कि कर्म-फल कर्त्ता के वश में नहीं होता। जब कोई कर्म लक्ष्य-प्राप्ति की दृष्टि से सफल नहीं होता तब वे घटक जिन पर कर्त्ता अपना वश नहीं मानते, सरलता से ध्यान में आ जाते हैं। इसके विपरीत सफल कर्म में बहुधा इस बात पर ध्यान नहीं जाता कि कर्त्ता के अपने प्रयास तथा भाग के अतिरिक्त और कौन से घटक समाविष्ट थे। इन बिन्दुओं की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयोजन इस ओर संकेत करना है कि कर्त्ता के रूप में व्यक्ति की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रहते हुए भी कर्म उस व्यक्ति के द्वारा ही पूर्णतया सम्पन्न नहीं होता। अनेक प्रकार के कर्मों में तो व्यक्ति की भूमिका एक निमित्त से अधिक नहीं होती। यह विवेचन इस तथ्य को ग्रहण करने में सहायक होता है कि कर्म करते हुए भी कर्त्ता पूर्ण रूप से कर्त्ता नहीं होता। अनेक अवस्थाओं में तो वह एक लम्बी कड़ी या व्यवस्था में एक घटक से अधिक कुछ नहीं होता।

ऐसा होते हुए भी कर्त्ता को उसके उत्तरदायित्व से मुक्ति नहीं मिलती। युद्ध की बात तय हो जाने पर, दोनों सेनाओं के आमने-सामने स्थित हो जाने पर, जब शस्र-संधान की बारी आती है तब अर्जुन युद्ध के प्रति उदासीन हो जाता है। कृष्ण उसे बताते हैं कि युद्ध नहीं करने पर उसकी गति क्या होगी और यदि वह अपना कर्त्तव्य निभाता है तब उसका क्या फल होगा। इस सब का कोई अर्थ नहीं होगा यदि अर्जुन को उसके लिए उत्तरदायी न माना जाये। यदि यह भी मान लें कि कोई भी पूर्ण रूप में कर्म का कर्त्ता नहीं होता तब भी कर्त्तव्य के रूप में कर्त्ता को ही कर्म के लिए उत्तरदायी माना जाता है। कुछ मिलती जुलती स्थिति तब होती है जब किसी सामूहिक कर्म के लिए समूह के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



अध्यक्ष/नेता को उत्तरदायी माना जाता है। दूसरी ओर समूह या संस्थान के अन्य सदस्य कर्म-सम्पादन के इतिहास में उल्लिखित नहीं होते।

ज्ञान तथा कर्म को लेकर गीता में उपलब्ध अवधारणाओं को उपुर्यक्त संक्षिप्त विवेचन के आलोक में देखें कि गीता में मूल्य को लेकर क्या स्थिति बनती है। यह तो स्पष्ट है कि ज्ञान की बात हो चाहे कर्म की, यदि वह बात किसी दिशा-बोध की ओर संकेत नहीं करती तो वह बात पूरी नहीं होती। फल में अनासक्ति का निर्देश यह भ्रम सरलता से उत्पन्न कर देता है कि कर्म दिशाहीन हो सकता है। यह इस बात से स्पष्ट है कि बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि बिना फल की इच्छा के कर्म कैसे सम्भव है? 4/19 में गीता का श्लोक इस प्रश्न का क्या उत्तर देता है? वहाँ कहा गया है कि पण्डित का लक्षण यह है कि वह जो कुछ भी करता है वह सब काम तथा संकल्प से रहित होता है। उसके कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा भस्म हो जाते हैं। स्पष्ट है कि यदि इच्छा (काम) तथा संकल्प छोड़ दिये जायें तब कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती और कर्म की दिशा अथवा लक्ष्य का कोई प्रयोजन नहीं रहता। लक्ष्य एवं दिशा इच्छा से ही तो निर्धारित होते हैं!

इसके विपरीत जब कर्म में प्रवृत्त होने की बात कही जाती है तब गीताकार का क्या आशय होता है? हर बार जब कोई युक्ति समाप्त होती है तब अर्जुन को उठ खड़े होने तथा युद्धरत होने के लिए कहा जाता है। इसके अतिरिक्त, कर्म में प्रवृत्ति की अनिवार्यता को ज़ोर देकर स्पष्ट किया गया है। यद्यपि व्यक्ति की अपनी किसी इच्छा की पूर्त्ति की बात नहीं कही गई है परन्तु लोकहित में तथा लोक-संग्रह के निमित्त कर्म करने का निर्देश स्पष्ट रूप से दिया गया है (3.18, 3/25)। इसके अतिरिक्त, स्वयं व्यक्ति की आत्म-साधना पर, जो अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने से सम्बद्ध है, पर्याप्त बल दिया गया है। यहाँ तक कि उस साधना के विभिन्न सोपान तथा पक्ष भलीभाँति विवेचित हुए हैं। इस परिप्रेक्ष्य में कर्म को दिशाहीन अथवा किसी भी लक्ष्य से असम्बद्ध नहीं माना जा सकता। और यही परिप्रेक्ष्य हमें गीता के मूल्य-बोध से अवगत कराता है।

वस्तुत: जीवनयापन के लिए आवश्यक कर्म तो सभी जीवों के लिए अनिवार्य हैं। वे स्वभाव से ही होते रहते हैं। समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब इन्हीं सहज तथा स्वाभाविक कर्मों की दिशा आत्मघाती हो जाती है, अथवा उस व्यवस्था में व्यवधान बनती है जिसमें एक भद्र तथा सभ्य ज़ीवन सम्भव होता है। दुष्कर्म के जो मूल स्रोत हैं—काम, क्रोध, मोह, लोभ—वे ही कर्म को ग़लत दिशा देते हैं। यदि कोई मूल्य-बोध कर्म की चेतना का अंग न हो तब सही-ग़लत के विवेक का कोई महत्त्व ही नहीं रहता। जब व्यक्ति ग़लत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



मनोदशा के अधीन होता है अथवा उसमें तमस् का अतिरेक होता है, तब किसी कृष्ण की प्रेरणा, अनुग्रह तथा सत्परामर्श आवश्यक हो जाता है।

यह सोचना तो उचित नहीं होगा कि अर्जुन में मूल्य-बोध का अभाव था, जिसके कारण वह रथ के पीछे जा बैठा था। वस्तुतः युद्ध के विरुद्ध जो युक्तियाँ उसने दी थीं वे सभी मूल्य से सम्बन्धित थीं—उनमें व्यक्ति, कुल तथा समाज सभी के पक्ष से मूल्यबोध का प्रभाव था। फिर भी वे कृष्ण को पण्डित की सी बातें नहीं लगीं। असल में विषय-वस्तु की दृष्टि से अर्जुन की उन युक्तियों में कोई दोष नहीं था। दोष तो इस बात में था कि जिस अवसर पर अर्जुन ने उन युक्तियों को प्रस्तुत किया था, वह अवसर उनके लिए उपयुक्त नहीं था।

इस प्रकार यह कहना भ्रामक नहीं होगा कि गीता की मुख्य विषय-वस्तु एक मूल्य-तन्त्र का परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती है, जिसके अन्तर्गत ही सार्थक जीवन, लोक-कल्याण तथा एक भद्र समाज की कल्पना सम्भव होती है। इस परिप्रेक्ष्य को आत्मसात् करने के लिए विषय से एक दूरी, निस्संगता अथवा तटस्थता प्राप्त करना आवश्यक होता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के निमित्त समभाव तथा स्थिरबुद्धि की भूमिका के महत्त्व को कम नहीं आँका जा सकता।

**10/558, कावेरी पथ,**
**मनसरोवर, जयपुर 302020**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# मानं द्विविधं विषय द्वैविध्यात्

अम्बिकादत्त शर्मा

## I

प्रमाण-प्रमेय की पृथक्कृत एवं भेदपूर्ण स्थिति पर ही कोई प्रमाण-मीमांसा अवलम्बित होती है। प्रमाणों को भाव-साधन और प्रमेयों को साध्यर्थ मानकर ही दोनों की पृथक्ता एवं भेदरूपता को बनाये रखा जाता है। नागार्जुन के द्वारा **वैदल्यसूत्र** और **विग्रहव्यावर्तनी** में प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध की जैसी परीक्षा की गई है वह दोनों की मूलभूत पृथक्ता एवं भेदरूपता को ही समाप्त कर देती है। नागार्जुन के अनुसार वस्तुत: प्रमाण से प्रमेय और प्रमेय से प्रमाण की सिद्धि होती है। फलत: दोनों की सापेक्षता की अवान्तर निष्पत्ति इस बात में होती है कि प्रमाण 'प्रमेय का प्रमेय' और प्रमेय 'प्रमाण का प्रमाण' हो जाता है।[1] इस तरह प्रमाण और प्रमेय के परस्पर परिवर्तनीय होने से दोनों की पृथक्ता एवं भेदरूपता पर अवलम्बित प्रमाण-मीमांसा का ढाँचा ही क्षतिग्रस्त हो जाता है। तब एक-पर-एक दोषों की शृंखला का आरम्भ हो जाना स्वाभाविक ही है। नागार्जुन की परीक्षा में यह सब कुछ सुतरां देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए जब हम प्रमाणों की सिद्धि का प्रश्न उठाते हैं और उसके लिए प्रमाणान्तर की कल्पना करते हैं तो पूरी प्रक्रिया मूलोच्छेदक अनवस्था से ग्रस्त हो जाती है। यहाँ विचारणीय है कि प्रमाणसिद्धि का प्रश्न उठाया जाना ही किस प्रकार सम्भव है? साधारणतया सिद्धि का प्रश्न साधन से नहीं बल्कि साध्यर्थ से सम्बन्धित होता है। ध्यातव्य है कि भावसाधन की भूमिका वाले प्रमाणों की सिद्धि का प्रश्न तब तक नहीं उठाया जा सकता जब तक कि उन्हें प्रमेय के रूप में प्रतिस्थानापन्न न कर दिया जाये। अर्थात् प्रमाण को प्रमेय के रूप में प्रतिस्थानापन्न कर ही उसकी सिद्धि का प्रश्न उठाया जा सकता है। यह प्रमाणसिद्धि के प्रश्न को उठाने की पूर्वापेक्षा है। इस प्रकार प्रमाण-प्रमेय की आनुषंगिक रूप से परस्पर परिवर्तनीयता को दिखाते हुए ही नागार्जुन अपनी परीक्षा को आगे बढ़ाते हैं और अनेक विकल्पों को उद्भावित करते हुए उन्हें दोषयुक्त बताते हैं।

अब यहाँ विचारणीय है कि यदि नागार्जुन के आक्षेप प्रमाण-प्रमेय की संरचना के प्रति मौलिक और आधारभूत हैं तो इसका कैसा प्रभाव दिङ्नाग-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



धर्मकीर्ति आदि बौद्ध नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित प्रमाण-मीमांसा पर पड़ा है? क्या दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के प्रमाण-मीमांसीय चिंतन पर नागार्जुन के आक्षेप यथावत् लागू होते हैं अथवा उनके चिंतन को इन आक्षेपों से कथंचित् मुक्त कहा जा सकता है? यदि बौद्ध नैयायिकों ने साँख्य, न्याय-वैशेषिक एवं पूर्वमीमांसा इत्यादि दर्शनों के प्रमाण-विचार को स्पष्टतया पूर्वपक्ष बनाया है तो उन्हें नागार्जुनकृत प्रमाण-प्रमेय परीक्षा के प्रति भी अत्यधिक सचेष्ट रहना चाहिए था। यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो यही समझा जायेगा कि नागार्जुन जिस प्रकार परयूथ्य के दार्शनिकों द्वारा तिरस्कृत हुए हैं उसी प्रकार स्वयूथ्य के दार्शनिकों द्वारा भी उनकी उपेक्षा हुई है।

इस ऐतिहासिक और दार्शनिक महत्त्व के प्रश्न पर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति अपने प्रमाण-मीमांसीय चिंतन की रूपरेखा बनाते हुए नागार्जुन के आक्षेपों के प्रति सतर्क रहे हैं और साथ-ही-साथ उससे बचने का हर सम्भव प्रयास कई स्तरों पर किया है। उनके प्रमाण-मीमांसीय चिंतन का निहितार्थ केवल बौद्धसम्मत प्रमाण-शास्त्र का विकास करना ही नहीं था बल्कि ब्राह्मण दर्शनों की प्रमाण-मीमांसीय स्थापनाओं का खण्डन करते हुए एक ऐसी संशोधनात्मक प्रमाण-मीमांसा का ढाँचा तैयार करना भी था जो नागार्जुन के संदेहवादी प्रकार के आक्षेपों से भी यथासम्भव मुक्त हो। अवधेय है कि नागार्जुनकृत प्रमाण-प्रमेय परीक्षा का ऐतिहासिक पूर्वपक्ष नैयायिकों की प्रमाण-मीमांसा रही है जिसकी मूलभूत मान्यता 'प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः' है।[2] नागार्जुन ने इसका खण्डन चारों तरफ से घेर कर किया है। नैयायिकों के 'मानाधीना मेयसिद्धिः' की परीक्षा करते हुए जहाँ प्रतिविकल्प के रूप में प्रमेय से प्रमाणसिद्धि का प्रश्न उठाया गया है वहाँ भी इस विकल्प की दोषयुक्तता इस रूप में प्रदर्शित की गई है कि लोकबुद्धि में साधन (प्रमाण) सं साध्य (प्रमेय) की सिद्धि मान्य है, साध्य से साधन की नहीं। अर्थात् 'मेयाधीना मानसिद्धिः' का निराकरण[3] वास्तव में 'मानाधीना मेयसिद्धिः' का खण्डन करने के लिए किया गया है, स्वतन्त्र रूप से नहीं। इसलिए बौद्ध नैयायिक 'मेयाधीना मानसिद्धिः' को ही मूलभूत मान्यता बनाकर अपनी प्रमाण-मीमांसा को खड़ा करने का प्रयास करते हैं। नागार्जुन के चक्रव्यूह से निकलने का सर्वाधिक सुरक्षित मार्ग भी यही हो सकता था। 'मेयाधीना मानसिद्धिः' की दृष्टि पर अवलम्बित प्रमाण-मीमांसा में प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण और मूलभूत नहीं होता जितना कि प्रमाण-निरपेक्ष प्रमेयों के अस्तित्व का प्रश्न आधारभूत होता है। ध्यातव्य है कि प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न और अनवस्था में उसकी परिणति ही 'मानाधीना मेयसिद्धिः' पर अवलम्बित प्रमाण-मीमांसा को ध्वस्त कर देती है। नैयायिक इससे बचने के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



लिए प्रमाण-प्रमेय भेद को माप्य-मापक रूप[4] से बनाये रखने का प्रस्ताव करते हैं और अनवस्था से बचने के लिए मूलोच्छेक एवं व्यवहारोच्छेदक अनवस्था में भेद करते हुए अपने पक्ष की ऐसी व्याख्या करते हैं कि प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न मूलोच्छेदक अनवस्था के प्रसंग को उपस्थापित तो करता है लेकिन यह व्यवहारोच्छेदक नहीं होता। बौद्ध नैयायिक प्रमाण-सिद्धि के प्रश्न में न उलझते हुए प्रमाण-निरपेक्ष प्रमेयों के अस्तित्व-व्यवस्थापन का प्रयास करते हैं। यह उनकी प्रमाण-मीमांसा का केन्द्रीय प्रश्न है, जिसका समाधान वे 'व्यावर्तक द्वैराश्यभेद' की प्राक्कल्पना के आधार पर करते हैं। प्रसंगत: इसका विवेचन हम आगामी पृष्ठों में करेंगे। इसके बावजूद यदि कोई प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न उठाये तो इनके मत में प्रमाणान्तर की आवर्तीय अपेक्षा के चलते अनवस्था की उपपत्ति नहीं होती, क्योंकि बौद्ध न्याय में चित्त की प्रत्येक अवस्था का आत्मसंवेदन से युक्त होना स्वीकृत है।[5]

इस प्रकार नैयायिकों की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानी जाने वाली 'मानाधीना मेयसिद्धि:' की अवधारणा और नागार्जुन द्वारा उसकी प्रसज्य-प्रतिषेधवादी समीक्षा से निकला हुआ बौद्ध नैयायिकों का प्रमाण-मीमांसीय चिंतन एक नवीन प्रस्थान है। इसे हम 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाण-मीमांसा' का प्रस्थान कह सकते हैं। इसके चलते प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय एवं विनियोग सम्बन्धी प्रश्नों एवं निष्कर्षों में भारी फेरबदल हुआ है। इस प्रस्थान ने अपनी संशोधनात्मक (नैयायिकों के सन्दर्भ में) एवं पुनर्रचनात्मक (नागार्जुन के सन्दर्भ में) प्रकृति में पूरे भारतीय प्रमाण-मीमांसीय चिंतन को आन्दोलित किया है। इसका सम्पूर्ण श्रेय दिङ्नाग को जाता है।

## II

आचार्य दिङ्नाग अपने **प्रमाण-समुच्चय** में 'तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाण-मीमांसा' को प्रस्तावित करते हुए कहते हैं कि सिद्ध प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणों के दो ही प्रकार हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त अन्य किसी को स्वतन्त्र प्रमाण का दर्जा प्रदान नहीं किया जा सकता।[6] प्रत्यक्ष और अनुमानजन्य ज्ञान अर्थ से अव्यभिचरित होने के कारण क्रमश: अज्ञातार्थ-प्रकाशक और अविसंवादी होते हैं। इनके अर्थ से अव्यभिचारित्व की सिद्धि प्रत्यक्षत्व और अनुमानत्व धर्मों के द्वारा होती है। शब्दत्व इत्यादि अन्य धर्म अर्थ से अव्यभिचारित्व के प्रयोजक नहीं हो सकते, क्योंकि शाब्द ज्ञान का अर्थ से कोई तात्त्विक निबन्धन नहीं होता। ऐसा इसलिए क्योंकि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक प्रमेय पदार्थों के दो ही प्रकार हैं। प्रमाण-मीमांसीय उपागम में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण क्रमश: प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा गृहीत होते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



यहाँ विचारणीय है कि दिङ्नाग ने उपर्युक्त अभिकथन में प्रमेयों की संख्या का निर्देश नहीं किया है तथापि प्रमाणों की संख्या विषयक द्वैविध्य को क्यों उपलक्षित किया है? इस शंका का समाधान करते हुए कहा जा सकता है कि प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण-द्वैलक्षण्य को उपस्थापित करने पर प्रमाण-द्वैलक्षण्य से ही प्रमेय-द्वैविध्य का अध्याहार हो जाता है और सिद्ध प्रमेयों के अनुसार प्रमाण-विनियोजन का पक्ष भी अप्रभावित रहता है।[7] धर्मकीर्ति ने इस ऊह को और स्पष्ट करते हुए **प्रमाणवार्त्तिक** में 'मानं द्विविधं विषय द्वैविध्यात्' कहा है।[8] इस वार्त्तिक में 'द्वैविध्यात्' पद पंचमी विभक्ति है। पंचमी विभक्ति का प्रयोग हेतुभाव में होता है। इसलिए सम्पूर्ण पद से विषय-द्वैविध्यपूर्वक प्रमाण-द्वैविध्य का भाव ही द्योतित होता है।[9] विषय-द्वैविध्यपूर्वक प्रमाण-द्वैविध्य को स्वीकार करने पर प्रमाण-विषयक संख्या-विप्रतिपत्ति और प्रमाण-सम्प्लव का निराकरण स्वतः हो जाता है।

प्रमाण-प्रमेय की ऐसी संरचना के सन्दर्भ में तो बौद्ध नैयायिकों के समक्ष एक गम्भीर प्रश्न इस रूप में उपस्थापित होता है कि सिद्ध प्रमेयों की संख्या दो ही है, एक या दो से अधिक नहीं, इसका आधार क्या है? ध्यातव्य है कि इसका आपादन न तो परम्परा और न आप्त के द्वारा ही सम्भव है। क्या न्यायवादी बौद्धों को आप्त और परम्परा की प्रामाणिकता उसी रूप में स्वीकार्य है जिस रूप में बौद्धेतर दार्शनिकों ने इसका विनियोग किया है? बौद्ध नैयायिकों ने इस सन्दर्भ में उपर्युक्त स्रोतों का उल्लेख भी नहीं किया है। यदि सिद्ध प्रमेयों को प्रमाण से आपादित स्वीकार किया जाय तो सद्यः वचन-विरोध की प्रसक्ति होगी। पुनः, प्रमाणों से प्रमेय और प्रमेयों से प्रमाण का आपादन अन्योन्याश्रय दोष की तार्किक कठिनाई से ग्रसित हो जायेगा।

आचार्य धर्मकीर्ति एवं प्रज्ञाकर गुप्त ने इस केन्द्रीय समस्या को उठाते हुए इसका समाधान प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है। समस्या के समाधान का सम्पूर्ण प्रयास वास्तव में प्रमेय-विषयक द्वैविध्य को प्रमाण-निरपेक्ष अभिगम प्रदान करना है। इसके लिए उन्होंने जिस सिद्धान्त को प्रस्तावित किया है उसे 'व्यावर्तक द्वैराश्यभेद' की अवधारणा से अभिहित किया जा सकता है। हम इसकी सहायता से प्रमेयों के द्विविध प्रकार को प्रमाण-निरपेक्ष रूप से सुनिश्चित कर सकते हैं। हमारा सम्पूर्ण व्यवहार विरोध एवं स्वीकृति, विधि एवं निषेध पर आधारित होता है। धर्मकीर्ति ने सामान्य अनुभव में आसन्न द्वैराश्य को पुष्ट करने के लिए कतिपय मानदण्डों को उपस्थापित किया है।[10] ये मानदण्ड अपनी प्रकृति में हमारे अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्र 'अस्ति-भाति' को व्याप्त करते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



सर्वप्रथम हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को प्रयोजन-पूर्त्ति के निकष पर शक्त और अशक्त के द्वैराश्य में विभाजित कर सकते हैं। जो कुछ शक्त है, अर्थात् अर्थक्रिया में समर्थ है, उसी से हमारे प्रयोजन की सिद्धि होती हैं। वही साक्षात् ज्ञान-जनन में भी समर्थ होता है। जो कुछ अशक्त अर्थात् अर्थक्रिया में असमर्थ है, वह अपने स्वरूप में कल्पित ही हो सकता है। यह परम्परया ज्ञान-जनन में समर्थ होते हुए भी प्रवृत्ति-साफल्य का उपष्टम्भक नहीं होता।

द्वितीयत:, हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को सम्बन्धों के निकष पर सदृश और असदृश के द्वैराश्य में विभाजित कर सकते हैं। बौद्धिक विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि जो कुछ असदृश अर्थात् सर्वतोव्यावृत्त स्वरूप वाला है, उसी से प्रयोजन की सिद्धि होती है। जो कुछ सदृश अर्थात् अनेक व्यक्तियों में समान रूप से रहने वाला है, वह समान अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित ही हो सकता है। उससे प्रयोजन की सिद्धि मूलत: नहीं होती है।

तृतीयत:, हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को भाषीय मानदण्ड के आधार पर शब्द के विषय और अविषय के द्वैराश्य में वर्गीकृत कर सकते हैं। शब्द केवल सामान्य के व्यंजक होते हैं। सर्वतोव्यावृत्त वस्तु की अभिव्यंजना शब्द के द्वारा सम्भव नहीं। हमारी प्रयोजन-पूर्त्ति में सामान्य की सहभागिता के बदले स्वभावविशेष का ही मौलिक योगदान होता है।

चतुर्थत:, हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को व्यवसायात्मिका बुद्धि के आधार पर बुद्धि के विषय और उसके अविषय के द्वैराश्य में विभाजित कर सकते हैं। किसी वस्तु का असाधारण स्वरूप बुद्धि का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि की प्रवृत्ति अपेक्षावशात् होती है। बुद्धि का विषय तो वस्तु का साधारण स्वरूप ही हो सकता है। हमारे प्रवृत्ति-साफल्य का केन्द्र-बिन्दु वस्तु का साधारण स्वरूप नहीं होता। किसी वस्तु का असाधारण स्वरूप ही हमारी प्रयोजनात्मक निष्ठा के केन्द्र में होता है।

इस प्रकार सामान्य अनुभव के बौद्धिक विश्लेषण में सर्वत्र द्वैराश्य का प्रसंग उपलब्ध होता है।[11] यह द्वैराश्य अपनी प्रकृति में परस्पर व्यावर्तक है। इनकी समाश्रयता को एकत्व स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं। लौकिक न्याय के अनुसार जहाँ परस्पर व्यावृत्तिमूलक द्वैराश्य प्राप्त हो वहाँ उनमें से एक को वास्तविक और दूसरे को आरोपित समझना ही युक्तिसंगत होता है। यह हमारे अनुभव में आत्मनिष्ठ प्रविष्टियों को भी संकेतित करता है। हमारा सामान्य अनुभव वास्तव में स्वनिष्ठ यथार्थ और विकल्पात्मक आत्मनिष्ठता का संश्लेषित रूप है। एतावता बौद्ध नैयायिक प्रमेय-द्वैविध्यविषयक तत्त्वमीमांसीय अवधारणा को अनुभव में आसन्न व्यावर्तक द्वैराश्यभेद के आधार पर आपादित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



करने का प्रयास करते हैं। इसी द्वैराश्य को स्वलक्षण (शक्त, असदृश, शब्द-अविषय, धी-अविषय) और सामान्यलक्षण (अशक्त, सदृश, शब्द-विषय, धी-विषय) रूप प्रमेय-द्वैविध्य तथा प्रत्यक्ष और अनुमानरूपेण प्रमाण-द्वैविध्य के रूप में व्यवस्थित किया गया है।

यहाँ विचारणीय है कि 'द्वैराश्यभेद' के द्वारा प्रमेय-द्वैविध्य का प्रतिपादन क्या प्रमाणमूलक आधार से परे और पृथक् कोई पद्धति है? यदि नहीं तो प्रमेय-द्वैविध्य पर आधारित प्रमाण-द्वैविध्य का अभिगम अयुक्त हो जाता है और बौद्ध नैयायिकों की प्रतिज्ञा-हानि होती है। वस्तुत: ऐसा समझना उचित नहीं। हमारे सभी अभिकथन ज्ञानपूर्वक होते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमारे सभी अनुभवमूलक अभिकथन प्रमाणमूलक अभिकथन होते हैं। यहाँ अनुभवमूलक अभिकथन और प्रमाणमूलक अभिकथन में भेद विवक्षित है। उदाहरण के लिए 'विरोध का नियम' और उससे सम्बन्धित वक्तव्यों को प्रमाणमूलक वक्तव्य नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार द्वैराश्यभेद के नियम से आपादित प्रमेय-द्वैविध्य को प्रमाण-मीमांसीय आपादन नहीं कहा जा सकता। विरोध का नियम एक तार्किक नियम है। यह यथार्थता के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं बताता। वर्षा का होना और न होना एक साथ नहीं हो सकता, परन्तु इससे हमें यह जानकारी नहीं मिलती कि वर्षा हो रही है या नहीं हो रही है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि दोनों घटनाओं में से कोई एक ही हो सकती है। ऐसा कहने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार अनुभव में आसन्न द्वैराश्यभेद का नियम यथार्थता के सम्यक् स्वरूपावलोकन में असमर्थ होते हुए भी यथार्थता की प्रकारता को प्रमाण-निरपेक्ष रूप में सुनिश्चित कर सकता है। वस्तुत: एक अर्थ में प्रमाण-मीमांसा अनुभव का व्याकरण है। जिस प्रकार भाषा व्याकरणमूलक नहीं वरन् व्याकरण ही भाषामूलक है उसी प्रकार अनुभव प्रमाणमूलक नहीं वरन् प्रमाण ही अनुभवमूलक है। इसलिए प्रमाण-मीमांसा को अनुभव के पूर्व ही अनुभव के प्रस्तुतीकरण के लिए प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए। आनुभविक उपलब्धियों के नियमन की 'अनुवीक्षा' ही प्रमाण-मीमांसा है। इस अनुवीक्षा में आवश्यक रूप से तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता जाने-अनजाने प्रविष्ट रहती है जो प्रमाण-मीमांसीय अनुवीक्षा को गति प्रदान करती है। आखिर विभिन्न दर्शनों की प्रमाण-मीमांसा में भेद क्यों होता है? वह किसी भी तरीके से प्राप्त तात्त्विक दृष्टिकोण ही होता है जो हमारे प्रमाण-मीमांसीय प्रश्नों एवं निष्कर्षों में भेद लाता है। यह तात्त्विक दृष्टिकोण सर्वदा सुस्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं होता, परन्तु हमारी समस्त विचारणा की पृष्ठभूमि में रहता है और उसे निर्धारित करता है। नि:सन्देह वह हमारे प्रमाण-मीमांसीय विश्लेषण और तर्कना का पूर्ववर्ती होता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



है। यदि तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता से रहित प्रमाण-मीमांसा सम्भव हो तो वैकल्पिक प्रमाण-मीमांसा की कोई सम्भावना नहीं बनेगी। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में काण्ट ने ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा से अछूता रखने के प्रयास में 'स्वलक्षण वस्तु' (थिंग इनइट्सेल्फ) को सर्वथा अज्ञेय कह कर रहस्य बना दिया जबकि वह अज्ञेय रहकर भी उसकी सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा को गति प्रदान करती है। 'स्वलक्षण वस्तु' की स्वीकृति ज्ञानमीमांसा के लिए अपेक्षित तार्किक पूर्वमान्यता न होकर तात्त्विक पूर्वमान्यता के रूप में काण्ट के दर्शन की मौलिक आधार है। यह बात अलग है कि तात्त्विक पूर्वमान्यता को तार्किक पूर्वमान्यता के रूप में ख्यापित कर काण्ट अपनी बौद्धिक ईमानदारी का परिचय देते हैं। वस्तुत: सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा की एक तात्त्विक पृष्ठभूमि होती है। रिक्त विश्व में कोई ज्ञानमीमांसा सम्भव नहीं। तात्त्विक पूर्वकल्पना को अपनाये बग़ैर हम अपने ज्ञान का विश्लेषण और प्रमाणों का विनियोजन करना भी नहीं जान सकते हैं। हम इसी से आरम्भ करते हैं और इसी में हमें लौटना होता है। आरम्भ करने के लिए तात्त्विक प्राक्कल्पना को प्रमाण-मीमांसा की नींव पर रखना होता है। लौटने के लिए बुद्धि द्वारा बुद्धि की समीक्षा ही एकमात्र रास्ता है। अन्त:प्रज्ञा की अभिव्यक्ति सदैव अस्पष्ट होती है। इसके अनुवाद में व्याख्यान्तर की सम्भावना बनी रहती है। अतएव इस ऊहापोह से बचने के लिए तात्त्विक प्राक्कल्पना को एक ठोस बौद्धिक आधार प्रदान करने के लिए व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभविक उपलब्धियों के प्रकार विषयक एक अवधारणा को निश्चित करना होता है। तत्पश्चात् ज्ञान की उन अवस्थाओं, स्रोतों एवं उनकी विशेषताओं का निरीक्षण करना होता है जिसमें आनुभविक उपलब्धियों में आकारित होने वाले यथार्थता के प्रकार को व्यवस्थित किया जा सके। बौद्ध नैयायिकों की द्वैराश्यभेद विषयक अवधारणा व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभविक उपलब्धि में आचरित तात्त्विक कोटि-निर्धारण का ऐसा ही अभ्युपगम है। इसी के द्वारा वे प्रमेय-द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्राक्कल्पना को उपस्थापित करते हैं। यह सामान्य अर्थ में प्रमाणमूलक नहीं, बल्कि एक विशेष अर्थ में इसे अधितार्किक आधार से अभिहित किया जा सकता है।

## III

यदि यह मान लिया जाये कि प्रमेय-द्वित्व का उपस्थापक द्वैराश्यभेद का अभिगम प्रमाणमूलक नहीं है तो भी यहाँ विचारणीय है कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के रूप में प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक विषय-द्वित्व और उसकी परस्पर व्यावृत्तिरूपता किस प्रमाण से ज्ञापित होती है? बौद्ध नैयायिकों की प्रमाण-मीमांसीय योजना में इसे प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा किसी अन्य तीसरे प्रमाण के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



द्वारा अधिगृहीत होना चाहिए।[12] यदि प्रमेय-द्वित्व की प्रतिपत्ति किसी तीसरे प्रमाण से मानी जाये तो विरोध उपस्थित होगा। इस स्थिति में बौद्धों को दो ही प्रमाण न मानकर तीसरा प्रमाणं भी मानना पड़ेगा।[13] तृतीय प्रमाण को सम्मिलित करने मात्र से बौद्ध नैयायिक अन्योन्याश्रयता और तृतीय प्रमेय की प्रसक्ति से बच नहीं सकते।[14] ऐसा स्वीकार करने से उनके स्वमत की हानि होगी। प्रमाण-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यक्ष-परोक्ष विषय-द्वित्व की सिद्धि प्रत्यक्ष या अनुमान से भी नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष की अविषयीभूत वस्तु में अनुमान प्रसक्त होता है और परोक्ष विषय में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति अनुपपन्न है।[15] यदि प्रमेयगत द्वित्व को प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध माना जाये तो परोक्ष अर्थ में भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति को स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में परोक्षता अर्थहीन होगी और प्रत्यक्षेतर अनुमान प्रमाण व्यर्थ हो जायेगा। यदि प्रमेयगत द्वित्व की प्रतिपत्ति अनुमानात्मक मानी जाये तो साक्षात् में अनुमान की प्रवृत्ति को स्वीकार करना होगा। तब तो प्रत्यक्ष की अपरोक्षता ही व्यर्थ होगी और अनुमान का उपजीव्य प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थहीन हो जायेगा। यह सब कुछ बौद्ध सम्मत प्रमाण-व्यवस्था को व्याहत करने के लिए पर्याप्त होगा। अत: प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की परस्पर व्यावर्तक विषयता को स्वीकार करने में ही लाघव है।

पुन:, प्रमेयगत द्वित्व से प्रमाणगत द्वित्व क्योंकर निश्चित होगा? प्रमेयगत द्वित्व स्वयं असिद्ध होने के कारण प्रमाण-द्वैविध्य का साधक कैसे हो सकता है? प्रमेयगत द्विविधता के कारण प्रमाणान्तर-निरासमूलक प्रमाण-द्वैविध्य ही होना चाहिए, इसका प्रतिबन्धक क्या होगा? वैसे हेतु जिनका अपने साध्य से व्याप्ति सम्बन्ध नहीं होता व्याप्यत्वासिद्ध माने जाते हैं। व्याप्ति की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकती क्योंकि प्रमाणत्व धर्म सामान्यलक्षण है। सामान्यलक्षण में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति सर्वथा अनुपपन्न है। प्रमाणत्व के असिद्ध होने पर तद्घटित व्याप्ति रूप सम्बन्ध प्रत्यक्ष से क्योंकर निश्चित होगा? अतएव उपर्युक्त सभी दोषों की प्रसक्ति होने से प्रमेयगत द्वैविध्य की प्रतिपत्ति द्विविध प्रमाणों से नहीं हो सकती है। किसी तीसरे प्रमाण को स्वीकार करने पर स्वमत का ही विरोध करना होगा।[16]

वस्तुत: बौद्ध न्याय में प्रमेयद्वित्व और प्रमाणद्वित्व की संरचना पर सिलसिलेवार ढंग से विचार करने पर ऐसे आक्षेपों का उठना स्वाभाविक ही है। ये प्रश्न बौद्ध नैयायिकों के प्रमाण-मीमांसीय ढाँचे से सम्बन्धित व्यवस्थागत प्रश्न हैं। प्रज्ञाकर गुप्त एतद्विषयक व्यवस्था प्रदान करते हुए कहते हैं कि विषय-द्वैविध्य की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है। ऐसा इसलिए क्योंकि विषय-द्वैविध्य की उपस्थापक द्वैराश्यमूलक सदृश-असदृश इत्यादि प्रतीतियाँ ज्ञान के धर्म हैं। ज्ञान का स्वसंवेदनात्मक प्रत्यक्ष होने से ज्ञानगत धर्म का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



ग्रहण भी उसी से प्रसक्त होता है। ऐसी प्रतीति को भ्रान्तिरूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वरूप में ही यदि भ्रान्ति हो तो वादी, प्रतिवादी और मध्यस्थ का व्यवहार ही सम्भव नहीं हो सकेगा।[17] प्रज्ञाकर गुप्त की इस व्यवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में स्वसंवेदन रूप से ज्ञान का प्रत्यक्ष और साथ ही साथ ज्ञान के धर्मभूत विषयाकार के भी प्रत्यक्षात्मक ग्रहण प्रसक्त होता है तथा उससे भिन्न को परोक्ष माना जाता है। यहाँ 'उससे भिन्न' का तात्पर्य 'ज्ञान के धर्मभूत आकार की विषयभूत उस वस्तु से है जिसकी प्रतीति बाह्यार्थ रूप में होती है।' अतएव ज्ञान के धर्मभूत विषयाकार के प्रत्यक्ष और उस धर्मभूत आकार की विषयभूत वस्तु को परोक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है। परोक्षता के इसी अर्थ में वस्तु की आनुभविक उपलब्धि अनुमान से मानी जाती है। बौद्ध न्याय में यही स्थल अनुमिति का अवतार-स्थल माना जाता है।[18] ऐसा मानने से अनुमान के विषय-भूत सामान्यलक्षण में स्वलक्षण का अभिनिवेश नहीं समझना चाहिए। वास्तव में स्वरूपेण लक्ष्यमान स्वलक्षण ही पररूपेण लक्ष्यमान होकर सामान्यलक्षण से अभिहित होता है। यहाँ नैयायिकों के पक्ष से यह आशंका की जा सकती है कि सामान्यलक्षण की परोक्षता में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति न होने से उसमें अनुमान भी क्योंकर प्रवृत्त होगा? क्योंकि अनुमान की प्रवृत्ति भी प्रत्यक्षवशात् ही होती है। प्रज्ञाकर गुप्त इसका उत्तर देते हुए हमारा ध्यान एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आकृष्ट करते हैं कि परोक्षता का विग्रह अनुमान से न होकर स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष के द्वारा परोक्षता के परिच्छेदन से ही होता है।[19]

इस प्रकार प्रज्ञाकर गुप्त की साकार विज्ञानवादी योजना में कथंचित् प्रमेय-द्वैविध्य की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति को स्वीकार कर लेने पर भी यह विचारणीय बना ही रहता है कि ऐसा प्रत्यक्ष क्या वही है जो क्षणमात्र स्वलक्षण के ग्रहण तक सीमित होता है? स्वलक्षणग्राही प्रत्यक्ष और सामान्यलक्षणग्राही अनुमान के अतिरिक्त प्रमेय-द्वैविध्य को ज्ञापित करने वाला प्रत्यक्ष कुछ भिन्न ही होना चाहिए। ऐसा इसलिए क्योंकि जब स्वलक्षण की प्रतिपत्ति होती है तो सामान्यलक्षण का अध्यवसाय नहीं होता और सामान्यलक्षण का जब अध्यवसाय होता है तो स्वलक्षण की स्वरूपतः प्रतिपत्ति अनुपपन्न रहती है। ऐसी स्थिति में स्वसामान्यलक्षणात्मक प्रमेयद्वित्व की सकृत गवेषण क ऐसे प्रत्यक्षकर्त्ता की अपेक्षा रखती है जो दोनों को साथ-साथ जान... हो। ऐसा प्रत्यक्षकर्त्ता सामान्यजन की साक्षात्कारी संज्ञानात्मक परिसीमा का अतिक्रमण कर जाता है। अतएव प्रमेयद्वैविध्य की युगपद् प्रतीति किसी सर्वज्ञ पुरुष को ही हो सकती है। सर्वज्ञ-विहित ज्ञान के रूप में इसे बुद्ध-वचन मानने पर प्रमाणत्रय की प्रसक्ति और प्रमेयाश्रित प्रमाण-प्रतिपादन एक असंगताभिमान हो जायेगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



वस्तुतः उपर्युक्त प्रकार के आक्षेपों को उठाया जाना तब सम्भव होता है जब हम स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण को समान रूप से सत् लेकिन युगपद् रूप से अनुपलब्ध दो सत्ताओं के रूप में स्वीकार करते हैं। भाष्यकार प्रज्ञाकर गुप्त[20] इतिविषयक कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, जो विचारणीय हैं। प्रथमतः यह कि, स्वलक्षण की पारमार्थक अद्वैतरूपता में 'स्वलक्षण अन्यत्' और 'सामान्यलक्षण अन्यत्' ऐसा शब्द-प्रयोग नहीं हो सकता। द्वितीयतः यह कि, ऐसा कोई पौर्वापर्य नियम बनाना भी उचित नहीं कि स्वलक्षण का ज्ञान होने पर सामान्यलक्षण का ज्ञान होता है। तृतीयतः यह कि, ऐसा कहना भी सर्वथा अप्रामाणिक है कि सामान्यलक्षण के ज्ञान में अज्ञात स्वलक्षण की प्रतिपत्ति नहीं होती है। चतुर्थतः यह कि, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष ही पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र प्रमाण है।[21] अनुमिति की प्रमाणता साँव्यावहारिक है। भगवान् बुद्ध ने वासनावासित विनेयजनों को ध्यान में रखते हुए अनुमान को प्रमाण माना है। पंचतः यह कि, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की दृष्टि से सभी ज्ञानों में स्वलक्षण तत्त्व स्वसंवित्-रूपेण भासित होता है। विज्ञान का स्वाकार और विषयाकार ही स्वलक्षण और सामान्यलक्षण रूप विषय-द्वैविध्य की तात्त्विक संरचना है। तदनुरूप प्रत्यक्ष एवं अनुमान ही दो अवितथ प्रमेय की प्रतिपत्तियाँ हैं। षष्ठतः यह कि, जब ज्ञान स्वगत ही दो आकारों (ग्राहकाकार एवं ग्राह्याकार) का बोध करता है तो प्रमाण न एक हो सकता है और न ही तीन।[22] सप्ततः, यह कि प्रतिपत्ति-भेद ही प्रमाण-भेद है। यही विषय-भेद के रूप में भासित होता है। प्रतिपत्ति के दो प्रकार हैं—सामान्य रूपा (अनुमान) प्रतिपत्ति और विशेष रूपा (प्रत्यक्ष) प्रतिपत्ति। अतएव प्रतिपत्ति प्रकारों की द्विविधता के कारण एक ही विषय के दो आकार माने जाते हैं।[23]

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों में प्रकृत समस्या पर व्यापकतर दृष्टि से विचार करते हुए आक्षेपों का समाधान किया जा सकता है। यहाँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एकमात्र स्वलक्षण ही परमार्थसत् है। वही स्वरूपेण गृहीत और पररूपेण अध्यवसित होने के कारण स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण में विभक्त हो जाता है।[24] प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी विकल्पों से विकल्पित होकर सामान्यलक्षण के रूप में अध्यवसित होता है। स्वलक्षण का प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्पीकरण एक मनोजल्पात्मक, उत्प्रेक्षणात्मक और संश्लेषणात्मक प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया में अपरोक्ष रूप से गृहीत निर्विकल्पक स्वलक्षण नाम-जात्यादि विकल्पों से युक्त निश्चयात्मक स्वरूप को प्राप्त होता है।[25] यह सम्पूर्ण प्रक्रिया प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी होने के कारण अनुमान कही जाती है। इसलिए ग्राह्य एवं अध्यवसेय विषय की दृष्टि से भी दो ही प्रमाणों का विधान यथोचित है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि दोनों प्रमाणों द्वारा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



एकमात्र स्वलक्षण तत्त्व का विचार प्रसक्त होने से अनुमान प्रत्यक्ष का अनुवाद मात्र है। ग्राह्य एवं अध्यवसेय में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव होने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान का अपने-अपने विषय में प्रामाण्य स्थित होता है। प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय स्वलक्षण है, लेकिन उसका अध्यवसेय सामान्यलक्षण होता है। इसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण है, लेकिन उसका अध्यवसेय स्वलक्षण होता है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाये तो विकल्प सत् के लिए प्रयुक्त नहीं होंगे और व्यवहार के लिए कोई व्यवस्था नहीं बन पायेगी। सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षण व्यवहार योग्य नहीं होता। वह नाम-जात्यादि विकल्पों से युक्त होकर ही व्यवहार योग्य होता है। ध्यातव्य है कि अनुमान स्वलक्षण को विषय करते हुए उसमें सामान्यलक्षण का अभिनिवेश करता है। यह अभिनिवेश एक प्रकार की अयथाभिनिवेशिनी भ्रान्ति है। यही कारण है कि पूर्वोपस्थित स्वलक्षण प्रत्यक्ष से जनित संस्कारों के बल पर भावित होने के कारण अवस्तुविषयक अनुमान भी वस्तुविषयक प्रतीत होता है। अनुमान का उसके अभिप्रेत अर्थ से अविसंवाद मणि-प्रभा ज्ञान से मणि-प्राप्ति की तरह समझना चाहिए।[26] अनुमान में अज्ञातार्थ प्रकाशकत्व नहीं होने पर भी अविसंवाद मात्र से उसकी प्रमाणता स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है। बौद्ध न्याय में अज्ञातार्थप्रकाशकत्व प्रामाण्य का पारमार्थिक लक्षण है जो केवल प्रत्यक्ष में घटित होता है। अविसंवादकत्व प्रामाण्य का साँव्यावहारिक लक्षण है जो अनुमान के लिए प्रयुक्त होता है।[27] इस प्रकार एक ही परमार्थसत् का स्वरूपेण ग्रहण एवं पररूपेण अध्यवसायपूर्वक स्वसामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य और उसी के अनुरोध से प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक प्रमाण-द्वैविध्य ही बौद्ध नैयायिकों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

## IV

अन्ततः यदि प्रमाण-निरपेक्ष प्रमेय-द्वैविध्य की समस्या पर और भी मूलगामी दृष्टि से विचार किया जाय तो इसकी व्याख्या बुद्धोपदिष्ट अन्तर्दृष्टि के रूप में भी की जा सकती है। बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षाएँ परमार्थ और संवृति-सत् के भेद पर आधारित हैं।[28] तथागत की सर्वज्ञता में सत्यद्वय का यह भेद युगपद् रूप से प्रकाशित होता है जो सामान्यजन के लिए लब्ध नहीं है। बौद्ध परम्परा में यह तथागत की तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता के रूप में व्याख्येय है।[29] बौद्ध नैयायिक भगवान् बुद्ध की परम प्रमाणभूतता को स्वीकार करते हुए तथागत की इस भूमिका को सुरक्षित रखते हैं।[30] अतएव स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण रूप प्रमेय-द्वैविध्य की प्रमाण-निरपेक्ष प्राक्कल्पना को बुद्धदेशित परमार्थ एवं संवृति-सत् की चेतना से अनुप्राणित कहा जा सकता है। परमार्थ एवं संवृति-सत् के रूप में स्व-सामान्यलक्षणात्मक प्रमेय-द्वैविध्य को इस तरह आगममूलक अथवा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



प्रकाशित अन्तर्दृष्टि मानने में कोई विरोध नहीं बल्कि बड़ा लाघव है। यहाँ बुद्ध की भावनामयी प्रज्ञा से प्रसूत करुणामयी देशना का आगम-प्रमाण के रूप में विनियोग करते हुए प्रमाण-त्रैविध्य का विरोध प्रसंग भी उपस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों की कोटि में नियोजित करना कोई आवश्यक बाध्यता नहीं है। ध्यातव्य है कि ब्राह्मण एवं बौद्ध परम्परा में शब्द-प्रमाण की प्रकृति को लेकर पर्याप्त मतभेद हैं फिर भी इसे सर्वत्र एक उच्च स्तरीय प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। इसे भारतीय प्रमाणवाद का निगूढ़ार्थ स्वीकार करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि यहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रसक्ति शब्द-प्रमाण-प्रदत्त परिसीमा में ही होती है। इसके बावजूद यदि बौद्ध नैयायिक 'व्यावर्तक द्वैराश्यभेद' की अवधारणा कर प्रमेय-द्वैविध्य को प्रमाण-निरपेक्ष रूप से आपादित करने का प्रयास करते हैं तो उनका यह प्रयास अपनी अधितार्किक तात्त्विक पूर्वमान्यता को व्यावहारिक एवं विश्लेषणात्मक बुद्धि से निष्पादित करने का महत्त्वपूर्ण उपायकौशल है।

**दर्शन-विभाग,**
**डॉ. हरीसिंह गौड़ विश्वविद्यालय, सागर - 470003**

## सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. नागार्जुन — **वैदल्यसूत्र-2** : प्रमाण-प्रमेयानि स्वतोऽसिद्धानि, मिथोऽभिसम्प्लुतत्त्वात्।
2. टिप्पणी — यह बात वैदल्यसूत्र से सुतरां स्पष्ट होती है, क्योंकि सम्पूर्ण **वैदल्यसूत्र** गौतम-प्रणीत लक्षण-निर्देशक न्यायसूत्रों के खण्डनार्थ ही प्रणीत हुआ है। द्रष्टव्य, हमारा निबन्ध — 'वैदल्यसूत्र एवं न्यायसूत्र के अन्तःसम्बन्ध पर कुछ विचार।' **समाज धर्म एवं दर्शन**, वर्ष 18-2
3. नागार्जुन — **विग्रहव्यावर्तनी-43** : सिध्यन्ति हि प्रमेयाप्यपेक्ष्य यदि सर्वथा प्रमाणानि। भवति प्रमेयसिद्धिर्निविक्ष्यैव प्रमाणानि।
4. गौतम — **न्यायसूत्र-2/1/16**, प्रमेया च तुला प्रामाण्यवत्।
5. धर्मकीर्ति — **न्यायविन्दु** : सर्वचित्तचैत्तानां आत्मसंवेदनम्।
6. दिङ्नाग — **प्रमाणसमुच्चय-1/2** (आयंगर द्वारा सम्पादित एवं पुनर्रचित)
   प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
   प्रमेयस्तत्प्रयोगार्थ न प्रमाणान्तरं भवेत्।।
7. वही — वृत्ति-1/2, अत्र प्रमाणं द्विविधमेव। कुतश्चेत्। द्विलक्षण प्रमेयम्।
8. धर्मकीर्ति — **प्रमाणवार्त्तिक-2/1**
9. टिप्पणी — यहाँ 'विषय' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ रखता है। प्रमाण-प्रयुक्ति के विना किसी विषय को प्रमेय नहीं कहा जा सकता। चूँकि प्रमाण-प्रयुक्ति से पूर्व ही विषय-द्वैविध्य का प्रस्ताव किया गया है अतएव उसके लिए धर्मकीर्ति 'प्रमेय' शब्द का प्रयोग न कर 'विषय' शब्द का प्रयोग करते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



10. धर्मकीर्ति — **प्रमाणवार्तिक-2/1-2**, मानं द्विविधं विषय-द्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः। अर्थक्रियायाम् केशादिनार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः।। सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वतः। शब्दस्यान्यनिमित्तानां भावे धीसदसत्त्वतः।।
11. मनोरथनन्दी — **प्रमाणवार्तिकटीका-2/2**, सर्वस्य संग्रहात् द्वैविध्यमेव।
12. प्रज्ञाकर गुप्त — **प्रमाणवार्तिकालंकारभाष्य** (स्वामी योगीन्द्रानन्द), पृ. 413, ननु प्रत्यक्ष-परोक्ष-लक्षणो विषय-भेदः केन प्रमाणेन प्रमीयते? किं प्रत्यक्षानुमानेन प्रमाणान्तरेण वा?
13. वही 2/8, प्रमाणान्तरेण द्वित्वश्चेत् प्रमेयस्य प्रमीयते। विरुद्ध एव हेतुः स्यात् तृतीयस्यापि सम्भवात्।
14. वही 9-10, प्रमाण-द्वितयेनाथ भवेदन्योऽन्यसंश्रयः। त्रयादिनापिप्रमाणेन विषयान्तरसाधने।। त्रयादिप्रमाणप्रसिद्धिः स्यात् अभिप्रेतं न सिध्यति। प्रमाभेदो हि मेयस्य प्रभेदस्य प्रसाधकः।।
15. वही, 11-12, अनुमानेन सिद्धिश्च परोक्षस्य कथं भवेत्। न प्रत्यक्षं परोक्षेऽस्ति वृत्तौवा व्यर्थिकानुमा।। परोक्षता कथञ्च स्यात् प्रत्यक्षस्य प्रवर्तने। प्रत्यक्षस्य निवृत्यैव वस्तुना स्यात् परोक्षता।।
16. वही 15-16, प्रतिबन्धा प्रसिद्धौ हि सर्व हेतुरनिश्चितः। प्रतिबन्धप्रसिद्धिश्च न प्रत्यक्षप्रमाणिका।। प्रमाणत्वं हि सामान्यं कथमप्यक्षसाधनम्। तस्मिन्नसिद्धे सम्बन्धः कथन्तेनाक्षनिश्चितः।।
17. प्रज्ञाकर गुप्त — **प्रमाणवार्तिकालंकारभाष्य** (स्वामी योगीन्द्रानन्द), पृ. 414, अत्रोच्यते विषयद्वैविध्यम्प्रत्यक्षत एव सिद्धम्। सदृशासदृशप्रतीतिर्हि प्रतीतिरेव धर्मः, स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धः। न च प्रतीतिः स्वरूपे भ्रान्तिसञ्ज्ञा। तत्र भ्रान्तिशंकायामव्यवहार एव भवेदनवतारहेतुर्वा यादिप्रतिवादिप्राश्निकवचनस्य।
18. वही, पृ. 420, ततः प्रत्यक्षेण परोक्षताप्रतीतावपि वस्त्वनुमानेन प्रतीयत इत्यनुमानावतारः।
19. वही; 2/45, नानुमानात्परोक्षत्वं साध्यते तस्य वस्तुनः। सत्यामध्यक्षतायान्तु दृष्टरूपस्य साधनम्।
20. वही, पृ. 72, स्वसंवेदनेन तु ग्रहणे स्वलक्षणमेव तदिति स्वलक्षणविषयमेव प्रमाणम्। यदा तु पुनरद्वैतं तदा न सामान्यम्। तत्र च स्वलक्षणप्रतिरुद्धं अन्यद्वेति व्यपदेशः। अवित् न विद्यते विदस्यति अवित्। क्व ज्ञाते स्वलक्षणे तज्ज्ञानमिति। न खलु पूर्वोत्तर भावे प्रमाणं येन स्वलक्षणज्ञानादुत्तरकालमेतदिति विलक्षणता वा प्रतीयते। स्वलक्षणमेवात्र सर्वत्र ज्ञाने प्रतीयते। न च भेद इति।
21. वही, पृ. 73, विनेयज्ञानाभिप्रायात् तमपेक्ष्य स्वसंवेदनमेवैकं प्रत्यक्षप्रमाणम् नापरम्।
22. वही, पृ. 538, स्वाकारद्वयसंवेदने हि नैकमिति युक्तम्। नापि त्रयादिकम्। तथा हि त्रैकसंख्या निरास इति।
23. वही, पृ. 410, विषयस्य चैकस्यैव द्वैविध्यं प्रतिपत्ति प्रकारस्य द्वैविध्यात्।
24. धर्मकीर्ति — **प्रमाणवार्त्तिक-2/53/54**, भावधर्मत्वहानिश्चेत् ... मेयं त्वेकं स्वलक्षणम् ... तस्य स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम्।
25. धर्मोत्तर — **न्यायबिन्दुटीका-1/21**, यस्मात् प्रत्यक्षबलोत्पन्नेनाध्यवसायेन दृष्टत्वेनार्थोऽवसीयते नोत्प्रेक्षितत्वेन। दर्शनञ्चार्थसाक्षात्करणाख्यं प्रत्यक्षव्यापारः। उत्प्रेक्षणं तु विकल्पव्यापारः। तथा हि परोक्षत्वं अर्थं विकल्पयन्त उत्प्रेक्षामहे न तु पश्याम इति उत्प्रेक्षणात्मकं विकल्पव्यापारं अनुभवादध्यवस्यन्ति।
26. धर्मकीर्ति — **प्रमाणवार्त्तिक-2/55-58**, अयथाभिनिवेशेन द्वितीयाभ्रान्तिरिष्यते ... अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



27. प्रज्ञाकर गुप्त — **प्रमाणवार्त्तिकालंकार-1/225**, तत्र पारमार्थिक प्रमाणलक्षणमेतत्। पूर्वं तु साँव्यावहारिकस्य।
28. नागार्जुन — **माध्यमिककारिका-24/8**, द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः।।
29. द्रष्टव्य — प्रो. ए.के. चटर्जी — **योगाचार आइडियलिष्93म्ज्म**, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1962, पृ. 223-24
30. धर्मकीर्ति — **प्रमाणवार्त्तिक-1/9**, तद्वत् प्रमाणं भगवान् अभूतविनिवृत्तये। भूतोक्तिः साधनापेक्षा ततो युक्ता प्रमाणता।।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# सामान्य ज्ञान की समस्या

नारायण शास्त्री द्राविड़

सामान्य या आगमनात्मक ज्ञान (इंडक्टिव [जनरलाइज़ेशन] नॉलेज) भारतीय तथा पाश्चात्य तर्कशास्त्रियों के लिए एक असाध्य समस्या बना हुआ है। उदयन, वल्लभ जैसे प्राचीन भारतीय तर्कशास्त्रियों ने तथा गंगेश, रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर जैसे मध्यकालीन तर्कशास्त्रियों ने एवं अन्नंभट्ट, विश्वनाथ पंचानन जैसे आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने भी इस ज्ञान की समस्या की अपने अपने ग्रन्थों में विस्तृत या संक्षिप्त चर्चा की है। गंगेशोपाध्याय ने तो नव्यन्याय के लिए आकर ग्रन्थ माने गये अपने **तत्त्वचिन्तामणि** के अनुमान खण्ड में व्याप्तिग्रहोपाय नामक स्वतंत्र प्रकरण की ही इस समस्या की चर्चा के लिए रचना की है। न्याय की पारिभाषिक पदावली में सामान्य ज्ञान की समस्या प्राय: व्याप्ति ज्ञान की समस्या के रूप में निर्दिष्ट होती है। पश्चिमी तर्कशास्त्र में भी यवन दार्शनिक सुकरात के समय से ही सामान्य ज्ञान सम्बन्धी विचार चला आ रहा है। अर्वाचीन तर्कशास्त्रियों ने इस विचार को बहुत आगे बढ़ाया है। एडमंड हुस्सर्ल, हेरोड, एयर, रेम्ज़े, कीन्स आदि विख्यात तर्कशास्त्रियों ने इस समस्या के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने के तथा उसे हल करने के अनेक प्रयास किये हैं। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इन प्रयासों के फलस्वरूप उक्त समस्या का संतोषदायक समाधान निकल पाया है। इस बात का इस लेख के प्रारम्भ में उल्लेख करने का प्रयोजन भारतीय तर्कशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये गये उक्त समस्या के समाधान की विशेषता को प्रकाश में लाना है। बात यह है कि भारतीय तथा पश्चिमात्य तर्कशास्त्री उक्त समस्या को एक ही प्रकार की नहीं मानते जिससे उनके समस्या-समाधान के प्रयास एक जैसे नहीं हो पाये हैं। पश्चिमी तर्कशास्त्री सामान्य ज्ञान की समस्या को 'तार्किक समस्या' मानते हैं किन्तु सभी भारतीय तर्कशास्त्री इस समस्या को तार्किक न मानकर मनोवैज्ञानिक मानते हैं। सामान्य ज्ञान सम्बन्धी तार्किक समस्या यह होगी कि 'क्या विशेषानुभवाधारित सामान्य ज्ञान विश्वसनीय या प्रमाण हो सकता है?' यदि हाँ तो कैसे उसका प्रामाण्य प्रस्थापित किया जा सकता है?' इसके विपरीत सामान्य ज्ञान या व्याप्तिज्ञान की मनोवैज्ञानिक समस्या यह होगी कि 'विशेषानुभवों के आधार से सामान्य ज्ञान प्राप्त करने की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



मानसिक तथा वस्तुगत शर्तें क्या हैं?' इन शर्तों का ही 'व्याप्तिग्रहोपाय' के रूप में सभी भारतीय तर्कशास्त्रियों ने अपने अपने ग्रन्थों में विचार किया है। एक और बात जो सामान्य ज्ञान विषयक भारतीय चिन्तन को पाश्चात्य चिन्तन से अलगाती है वह यह है कि विशेषानुभवजनित सामान्य ज्ञान को भारतीय तर्कशास्त्री आनुमानिक कतई नहीं मानते। उनके मतानुसार सभी अनुमान निगमनात्मक अर्थात् सामान्य या व्याप्ति पर ही आधारित निष्कर्ष रूप होते हैं। विशेषानुभवों के आधार पर या उनसे कोई आनुमानिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। सामान्य ज्ञान विशेषानुभवों पर आधारित हो सकता है किन्तु वह उनसे निष्कर्ष्य या निर्गत नहीं माना जा सकता। केवल विशेषानुभवों पर आधारित सामान्य ज्ञान सम्भावनात्मक ही होता है प्रमाणों के समान निश्चयात्मक नहीं। ऐसा होते हुए भी यदि सामान्य ज्ञान को आनुमानिक मानना हो तो दो बिल्कुल भिन्न प्रकार के अनुमान प्रमाण मानने होंगे। यही नहीं, सम्भावना को तब एक स्वतंत्र प्रमाण मानना होगा। यदि सम्भावना को प्रमाण मान लिया जाये तो सम्भावना की कम-अधिक उत्कटता के अनुसार सम्भावनान्तर्गत भी अनेक प्रमाण मानने होंगे। इतने पर भी यह अनवस्था समाप्त नहीं होगी। अनुमान के समान प्रत्यक्ष तथा शाब्द-ज्ञान की भी विभिन्न सम्भावनाएँ माननी पड़ेंगी। कुछ प्रत्यक्ष सुस्पष्ट होते हैं कुछ धूसर होते हैं और कुछ व्यामिश्र होते हैं। इन विभिन्न अनुभवों को प्रत्यक्ष की विविध सम्भावनाएँ मानना आवश्यक होगा। शाब्द बोध की भी ऐसी ही विभिन्न सम्भावनाएँ स्वीकार करनी पड़ेंगी। इन सम्भाव्य अनवस्थाओं का विचार करने पर सम्भावना को प्रमाण-विचार से अलग रखना ही तर्कसंगत प्रतीत होगा। इसका यह मतलब नहीं कि सम्भावना प्रवृत्ति कारक नहीं होती। मनुष्य या प्राणिमात्र की अधिकांश क्रियाएँ उनके सम्भावित फल की प्राप्ति की इच्छा से ही प्रेरित हुआ करती हैं। **न्यायावार्तिकटीका** में वाचस्पति मिश्र प्रारम्भ में ही कहते हैं कि एक अनपढ़ किसान भावी वर्षा की सम्भावना से ही वर्षा के बहुत पहले खेत जोतने के लिए चल पड़ता है, भले ही सूखा पड़ने के कारण उसकी सम्भावना बिल्कुल गलत साबित हो। लेकिन दर्शनों में प्रमाण-विचार-प्रवृत्ति सधन का विचार नहीं है। प्रवृत्ति-विषय वस्तु के यथार्थ ज्ञान के स्वरूप तथा साधनों का ही यह विचार है। सम्भावना वस्तु-स्वरूप प्रदर्शक नहीं हो सकती। प्रमाण ही वस्तुसत्ता के ज्ञापक होते या हो सकते हैं।

सामान्य ज्ञान को आनुमानिक तथा सम्भावनात्मक मानने में एक गम्भीर आपत्ति यह भी है कि सामान्य या हेतु-साध्य की व्याप्ति के ज्ञान पर आधारित साध्य सम्बन्धी निष्कर्ष कदापि निश्चयात्मक नहीं होगा। यदि आनुमानिक निष्कर्ष का आधार ही सम्भावनात्मक हो तो यह निष्कर्ष शत-प्रतिशत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



निश्चयात्मक कैसे होगा? सामान्य ज्ञान को साग्रह आनुमानिक कहने वाले पश्चिमी तर्कशास्त्री सम्भावना और निश्चय के भेद को प्राय: दुर्लक्षित कर देते हैं। कुछ पश्चिमी दार्शनिक सभी आनुमानिक अनुभवाधारित निष्कर्षों को एक समान सम्भावनात्मक करार देकर केवल शुद्ध तार्किक वाक्यों तथा उनके निष्कर्षों को ही पूर्ण तथा अनिवार्यतया सत्य प्रतिपादित करते हैं। लेकिन शुद्ध तार्किक निष्कर्षों के आधारभूत वाक्य भी सामान्यात्मक नहीं होते, ये वाक्य प्राय: पुनरुक्तिरूप (टॉटोलॉजीकल) या गृहीतक (पोश्चूलेट) के जैसे होते हैं जिनको सामान्य या विशेष नहीं कहा जा सकता। आनुभविक आनुमानिक निष्कर्षों को तार्किक निष्कर्षों के समान सामान्य न भी माना जाये तो भी इनकी आनुमानिकता अस्वीकार नहीं की जा सकती और इनकी आनुभविक निश्चयात्मकता भी अस्वीकार नहीं की जा सकती। लेकिन यदि सभी सामान्य वाक्य सम्भावनात्मक ही माने जायें तो उक्त निश्चयात्मकता का समर्थन कैसे किया जाये?

सामान्य ज्ञान की तथाकथित तार्किक समस्या प्रस्तुत करने में तथा उसके समाधान के लिए किये गये विभिन्न प्रयासों में भी पश्चिमी तर्कशास्त्रियों ने कुछ गलतियाँ की हैं जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। ये गलतियाँ व्याप्ति ज्ञान के विचार के प्रसंग में सम्भाव्य होने से इनका उल्लेख प्राचीन भारतीय नैयायिक उदयनाचार्य ने अपने **न्यायकुसुमाञ्जलि** नामक ग्रन्थ में संक्षिप्त रूप से किया है। उदयनाचार्य के कथनानुसार व्याप्ति-ज्ञान की सत्यता या प्रामाणिकता का प्रश्न इस सत्यता या प्रामाणिकता के पूर्वाभ्युपगम के बिना प्रस्तुत ही नहीं किया जा सकता। उदाहरणत: धूम और वह्नि के व्याप्य-व्यापक भाव के ज्ञान का प्रश्न लें। यदि यह प्रश्न व्याप्य-व्यापक भाव सामान्य के ज्ञान का प्रश्न हो तो यह किसी प्रकार के व्याप्य-व्यापक भाव के ज्ञान की सत्यता के पूर्वाभ्युपगम पर आधारित नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो प्रश्न आत्माश्रय दोष से दूषित हो जायेगा। लेकिन इस प्रश्न का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक अवांतर व्याप्य-व्यापक भावों की प्रमाणता प्रश्न में पूर्वगृहीत है। जैसे धूमसामान्य की वह्निसामान्य के साथ व्याप्ति का प्रश्न इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'क्या सम्मुख उपस्थित धूम-व्यक्तियों और वह्नि-व्यक्तियों से भिन्न अन्य सभी धूम और वह्नि व्यक्तियों में अनिवार्य साहचर्य या व्याप्य व्यापक भाव है?' यदि है तो उसकी सत्यता को कैसे परखा जाये? इस प्रश्न में यह पूर्वगृहीत है कि सम्मुख उपस्थित धूम-वह्नि व्यक्तियों से भिन्न अनेक धूम-वह्न व्यक्ति सत् हैं। इस तथ्य के ज्ञान के बिना उक्त प्रश्न किया ही नहीं जा सकता। यद ऐसी बात है तो अन्यान्य धूम-वह्नियों का ज्ञान सामान्यीकरण की प्रक्रिया के प्रयोग के बिना कैसे हो? अन्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



धूम-वह्नियों के साथ उनकी उपस्थिति के विभिन्न स्थलों तथा उनकी विद्यमानता के विभिन्न कालों का ज्ञान भी उक्त प्रश्न में पूर्वगृहीत मानना आवश्यक है। प्रश्नकर्त्ता दृश्य धूम-वह्नि व्यक्तियों के स्थल-कालों से ही परिचित है, अन्य स्थल-कालों से नहीं। इन स्थल-कालों के ज्ञान के लिए भी सामान्यीकरण अपेक्षित है। सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो इन्द्रियविषय वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए भी सामान्यीकरण अपेक्षित है। प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करने के पूर्व केवल आत्मसत्ता से अवगत होता है। इस आत्मसत्ता से भिन्न वस्तुसत्ता है और वह बाह्य विश्व से सम्बन्ध रखती है इस तथ्य की जानकारी इन्द्रिय-सामान्यी सन्निकर्ष के अतिरिक्त सामान्यीकरण प्रक्रिया की भी अपेक्षा रखती है।

उक्त समस्या के निरसन के लिए अनेक पश्चिमी तर्कशास्त्रियों ने जो विविध वैचारिक प्रयास प्रस्तुत किये हैं उनमें भी साधारणकीरण या व्याप्ति-ज्ञान की प्रामाणिकता पूर्वगहीत है। सामान्यीकरण किस परिस्थिति में और क्यों प्रमापणीय है यह जानने के लिए प्रथम यह जानना आवश्यक है कि कुछ सामान्यीकरण स्वाभाविक रूप से प्रमापित होते हैं। उनके प्रमापण की आवश्यकता ही नहीं होती। यदि सामान्यीकरण की सभी प्रक्रियाएँ संदेहास्पद हों या सम्भावनात्मक ही हों तो किसी भी उपाय से किसी भी सामान्यीकरण को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। यही नहीं, ऐसी अवस्था में सम्भावना और निश्चय का भेद ही समाप्त हो जायेगा।

सामान्यीकरण के सम्बन्ध में एक दो और विशेष महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर यहाँ दृष्टिपात करना अस्थाने नहीं होगा। पहली बात यह है कि सामान्य का वस्तु-स्वरूप के साथ घनिष्ठ या अनिवार्य सम्बन्ध है जिसके आधार पर प्रत्येक वस्तु की अपनी अपनी पहचान होती है। एक धूम को देखने के बाद दूसरे धूमों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के प्रश्न की अर्थपूर्ण सम्भावना तभी हो सकती है जब सभी धूम धूम के रूप में पहचाने जा सकें। 'धूम' शब्द का भी सही प्रयोग सब धूमगत धूम सामान्य की पहचान पर ही निर्भर करता है। क्षणिक वस्तुवादी सौत्रांतिक बौद्ध सामान्य की सत्ता को अस्वीकार कर उसे अन्यापोह में, जो अभाव रूप होने से वस्तु-सत् नहीं है, विलेय मानते हैं। लेकिन बौद्ध विचारक यही नहीं स्पष्ट कर पाते कि 'अन्यापोहान्तर्गत अन्य' व्यक्ति से अन्य है या एक जैसे व्यक्ति मात्र से अन्य है? एक व्यक्ति से अन्य सदृश व्यक्ति भी एक ही जाति के माने जाने के कारण वे अन्यापोहकारक नहीं हो पायेंगे। एक धूम से अन्य धूम भी धूम ही माने जाते हैं किन्तु अन्य होने से अन्यापोहकारक नहीं होंगे। एक जैसे व्यक्तिमात्र का अपोह तो सम्भव ही नहीं है क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में 'एक-जैसापन' रूप समान धर्म बौद्ध नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



मान सकते। सामान्य को समान संज्ञा के रूप में, विभिन्न गुण-धर्मों के समुच्चय के रूप में या अन्य किसी प्रकार से विश्लेषित करने पर भी वस्तु की पहचान या स्वभाव का समाधानकारक स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना सम्भव नहीं हो पाता।

यहाँ पुन: बौद्धों के क्षणिक या स्वलक्षण वस्तु सम्बन्धी सिद्धान्त का उल्लेख करना आवश्यक होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार वास्तव में कोई वस्तु-स्वभाव होता ही नहीं जो सभी एक जैसी मानी जाने वाली वस्तुओं में अनुगत रूप से विद्यमान माना जाये। प्रत्येक वस्तु-सत् स्वयंपूर्ण तथा आत्यंतिक विशेष होता है। एक जैसे प्रतीत होने वाले अन्यान्य घटादि भी एक-दूसरे से नितांत भिन्न होते हैं। एकरूपता, समानता, सादृश्य ये सब भ्रान्तियाँ हैं। यदि यह मत सही हो तो किसी भी वस्तु की पहचान तो क्या, ज्ञान भी असम्भव मानना पड़ेगा।

सामान्यीकरण सम्बन्धी दूसरा तथ्य जो विशेष महत्त्वपूर्ण है किन्तु जिसकी ओर विचारकों का ध्यान नहीं गया है वह यह है कि ज्ञान मात्र में ही सामान्यीकरण होता है। प्रत्येक सविकल्पक के ज्ञान में उद्देश्यभूत व्यक्ति या व्यक्तियों का विधेय रूप सामान्य के द्वारा आकलन हुआ करता है। 'यह एक पेड़ है' जैसे शुद्ध वस्तु-निर्देशात्मक ज्ञान में भी सम्मुख उपस्थित वस्तु पेड़ के रूप में अर्थात् वृक्षत्व सामान्य से अवगुंठित रूप में आकलित होती है। यदि वृक्षत्व एक ही पेड़ का धर्म हो तो भी अन्य सदृश या विसदृश व्यक्तियों से भिन्नता के रूप में ही उसकी प्रस्तुत व्यक्ति में उपस्थिति ज्ञात हो सकती है। अन्य वस्तु मात्र से तथा स्थल-कालादि से भी असम्बद्ध तथाकथित शुद्ध स्वलक्षण का सविकल्पक ज्ञान हो ही नहीं सकता। निर्विकल्पक ज्ञान भी ऐसी वस्तु का शायद असम्भव होगा। जिस ज्ञान में ज्ञेय की पहचान नहीं वह ज्ञान ही नहीं माना जा सकता। लेकिन पहचान के लिए और कुछ नहीं तो ज्ञेय की संज्ञा का विषय में समावेश आवश्यक ही है और संज्ञा पूर्णतया व्यक्ति-विश्रांत नहीं हो सकती। संज्ञा के लिए संज्ञी, संज्ञापक और असंज्ञान का अपोह ये सब अनिवार्यतया पूर्वाभ्युपगत होते हैं।

इस प्रकार सामान्य ग्रहण प्रत्येक सविकल्पक ज्ञान का अनिवार्य घटक होने से सामान्य का तथा सामान्य मूलक प्रत्यक्ष से ही वस्तु का ज्ञान होता है यह सिद्धान्त भारतीय तार्किकों ने उपस्थित किया है। किन्तु सामान्य के प्रत्यक्ष को तर्कशास्त्री लौकिक या साक्षात् इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं मानते। इसका कारण यह है कि इन्द्रिय और ऐन्द्रियक वस्तुओं तथा उनके गुण-धर्मों के जो सम्बन्ध हैं, वे इनके इन्द्रिय-सम्मुख उपस्थित होने पर ही घटित होते हैं। वस्तुसामान्य, अर्थात् एक जैसी सभी वस्तुएँ, कभी भी इन्द्रिय-सम्मुख उपस्थित नहीं हो सकतीं। किन्तु इनमें से किसी एक भी प्रतिनिधि वस्तु के इन्द्रिय के सम्मुख

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



उपस्थित होने पर अन्य सभी सजातीय वस्तुओं का प्रात्यक्षिक ज्ञान वस्तुगत सामान्य के माध्यम से घटित हो जाता है। इस ज्ञान में सामान्य सन्निकर्ष का ही कार्य करने के कारण इसे सामान्यसन्निकर्षजन्य अलौकिक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान माना जाता है। इस प्रकार सामान्य ज्ञान को प्रत्यक्ष रूप मानने पर यह प्रश्न अनिवार्यतया उपस्थित होता है कि सभी सामान्य ज्ञान या सामान्यीकरण की प्रक्रियाएँ यथार्थावगाही क्यों नहीं होतीं? क्यों कुछ सामान्य निष्कर्ष उनके घटक विशेषों के अनेक प्रसंगों में परीक्षण करने पर भी गलत साबित होते हैं? हंस पक्षी श्वेत होते हैं ऐसा कुछ वर्ष पूर्व तक समझा जाता रहा, लेकिन आस्ट्रेलिया में एक बार काले हंस दिखायी दिये जिससे सामान्य कथन असत्य सिद्ध हुआ। यदि हंसों की श्वेतिमा प्रत्यक्षगम्य ही होती तो उक्त कथन कदापि मिथ्या नहीं होता। इस अनुपपत्ति का स्पष्टीकरण यह है कि हंस का स्वाभाविक धर्म हंसत्व उसके किसी वर्ण का समावेशक नहीं है। उसके नैसर्गिक आकार तथा विचरण-शैली से ही हंस हंस के रूप में पहचाना जाना चाहिए। लेकिन भ्रमवश हंस के वर्ण को भी हंस के स्वभाव का घटक मान लिया गया जिससे हंस के सम्बन्ध में उक्त सामान्य धारणा प्रचलित हुई। कुछ वस्तुओं का स्वरूप देखते ही पहचान लिया जाता है लेकिन अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में यह बात सम्भव नहीं होती, क्योंकि उनका विभिन्न वस्तुओं के साथ साम्य हुआ करता है। इस कारण इन वस्तुओं पर उनके स्वाभाविक धर्मों के अतिरिक्त अनेक सांसर्गिक धर्म भी थोप दिये जाते हैं। इन धर्मों का स्वाभाविक धर्मों के रूप में भ्रान्तिवश आकलन करने पर गलत सामान्यीकरण घटित होता है।

अब तक के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सामान्यपरक ज्ञान या सामान्यीकरण की प्रक्रिया का प्रश्न तार्किक नहीं माना जा सकता। सामान्यावबोध ज्ञान मात्र में निहित रहता है। तथापि उक्त कारणों से कुछ सामान्यीकरण अयथार्थ साबित होते हैं। इसके कारण अधिकतर मानसिक होते हैं किन्तु कभी-कभी वस्तुगत भी होते हैं। इनको तार्किक मानना एक भ्रान्ति ही है।

प्रोफेसर कोलोनी, हनुमान नगर, नागपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की अवधारणा : कुछ ऊहापोह

**रामस्वरूप चतुर्वेदी**

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र या कि 'इंडियन ऐस्थैटिक्स' की चर्चा हमारे यहाँ कई बार होती है। इस अवधारणा के प्रसंग में पहले भी कुछ विचारकों ने आपत्तियाँ उठाई हैं और कहा है कि भारतीय चिंतन-परम्परा में सौन्दर्यशास्त्र जैसे किसी अनुशासन की परिकल्पना नहीं है। यहाँ कुछ कठिनाइयाँ और कुछ आपत्तियाँ, जो मेरे मन में उठती हैं, उन्हें प्रस्तुत कर रहा हूँ विषय के विद्वानों के समक्ष।

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र को कभी-कभी कलाशास्त्र भी कहा जाता है। पश्चिम में इस अनुशासन के अन्तर्गत सौन्दर्य या कि कला की समग्र परिकल्पना को एकबारगी व्याख्यायित करने का यत्न होता है। मूल कठिनाई 'कला' पद की भारतीय और पाश्चात्य अवधारणा के वैषम्य को लेकर सामने आती है। कला के दो विभाजन-वर्गीकरण प्रसिद्ध हैं—पश्चिम में हेगेल का और भारत में वात्स्यायन का। और यहीं 'कला' शब्द के अलग-अलग सन्दर्भों-अर्थों का अन्तर उभरता है।

पश्चिम में कला के अन्तर्गत काव्य सम्मिलित है। हेगेल की पाँच कलाओं—काव्य, संगीत, चित्रकला, मूर्त्तिकला और स्थापत्य—के क्रमिक विभाजन में काव्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। भारत में काव्य की गणना कलाओं में नहीं है, वह दर्शन-अध्यात्म के समतुल्य उच्चतम साधनाओं में है : कवि ऋषि और मनीषी है। कवि में सृजन और विचार-क्षमता का संयोग होने से शायद उसकी यह विशिष्ट स्थिति है। कलाएँ यहाँ निम्नतर धरातल पर हैं। वात्स्यायन के **कामसूत्र** में चौंसठ कलाएँ परिगणित हैं। हेगेल की पाँच कलाओं में से काव्य को छोड़ कर शेष सभी को यहाँ स्थान मिला है। आरम्भ की पाँच में क्रमश: गायन, वादन, नर्तन, नाट्य, आलेख्य (चित्र लिखना) हैं, इन्हें ललित कलाएँ कहा जा सकता है। उसके बाद तो अधिकतर व्यवहार-विधाओं की सूची है, जैसे—विशेषक (मुखादि पर पत्रलेखन), चौक पूरना, पुषाशय्या बनाना और आगे चल कर वास्तुकला आती है, जिसमें सम्भवत: मूर्त्तिकला और स्थापत्यकला दोनों आ जाती हैं। फिर गिनती बढ़ते-बढ़ते कठपुतली के खेल, द्यूतविद्या, रस्साकशी और व्यायाम तक पहुँचती है। यों हेगेल की कलाओं में से गायन संख्या एक पर, चित्र लेखन पाँच पर और मूर्त्तिकला तथा स्थापत्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



संख्या सैंतीस पर हैं। इनके अतिरिक्त, स्पष्ट ही ये अधिकतर व्यवहार-विधाएँ अंग्रेज़ी शब्द 'आर्ट्स' के बजाय 'क्राफ्ट्स' कोटि के अन्तर्गत आती हैं। काव्य यहाँ नहीं है ,पर उसकी दो व्यवहार-विधाएँ 'काव्य-समस्या पूर्त्ति' तथा 'आशुकाव्य क्रिया' क्रमशः तैंतीस तथा चौवन संख्या पर हैं (**हिन्दी विश्वकोश** — नागरी प्रचारिणी सभा)। जयशंकर प्रसाद ने अपने निबन्ध 'काव्य और कला' में 'कला' शब्द के इन प्रयोगों का विवेचन किया है, यद्यपि कुछ भिन्न सन्दर्भ में। यहाँ स्मरणीय है कि संस्कृत काव्य में 'कलाकार' शब्द का प्रयोग बहुत कुछ 'कवि' के निकट आता है, पर शास्त्र में कवि ऋषि और मनीषी है, जबकि कलाओं के प्रयोक्ता कारीगर जैसे हैं। यही कारण है कि पश्चिम के मूर्त्तिशिल्पी, वास्तुकार, चित्रकार वहाँ के कवियों-रचनाकारों के समतुल्य बैठते हैं, जैसे लियोनार्दो द विंची या माइकेल ऐंजेलो या और अनेक कलाकार, जबकि भारत में अजंता, कोणार्क और खजुराहो के रचयिताओं का कोई नाम भी नहीं जानता। शास्त्र में भारतीय कलाओं के प्रयोक्ता —विशेषतः गायक-वादक—को कवि-कलाकार से कुछ हीन अभिधान 'कलावंत' दिया गया है।

ऐसी स्थिति में पश्चिम के 'कला' पद को भारतीय संदर्भ में लाकर सौन्दर्यशास्त्र या कि कलाशास्त्र जैसे अनुशासन की अवधारणा बनाना कई तरह के विभ्रम उत्पन्न कर सकता है। पश्चिम का सौन्दर्यशास्त्र या कलाशास्त्र—जो अपने में अपेक्षया बहुत बाद में, 18वीं शती में विकसित अनुशासन है—समग्र कलाओं के रस-स्रोत की एक साँझी भूमि खोजना चाहता है। उदाहरण के लिए वाल्टर पेटर का प्रख्यात पर्यवेक्षण लें—''सभी कलाएँ संगीत की भाव-भूमि तक पहुँचना अपना साध्य मानती हैं।'' यहाँ पेटर दिखाना चाहता है कि जैसे संगीत में भाव-पक्ष और कला-पक्ष का विलीनीकरण हो जाता है वही आदर्श जैसे अन्य कलाओं के समक्ष रहता है। कलाओं को ऐसे रचना-परिवार के रूप में देखकर उन्हें व्याख्यायित करने का यत्न हमारे यहाँ नहीं हुआ है।

काव्य की कोटि है दर्शन-अध्यात्म के साथ, कलाएँ निचले कोटि-क्रम में आती हैं। भरत मुनि का रस-सिद्धान्त प्रदर्शनीय कलाओं—काव्य, नाटक, नृत्य की व्याख्या करता है, पर चित्र, मूर्त्ति, स्थापत्य जैसी दृश्य कलाओं को इसमें सम्मिलित नहीं करता। आज कला की चर्चा और विवेचन हमारे यहाँ अधिकतर पाश्चात्य सन्दर्भों में होता है। तब पश्चिम का एक प्रमुख विवाद 'कला कला के लिए' आधुनिक भारतीय समीक्षा में बहुत बार उतरता है, विशेषतः काव्यशास्त्र/साहित्यशास्त्र की मीमांसा में। 'सौन्दर्यशास्त्र' नामकरण का श्रेय बाउमगार्टेन को जाता है (1750 ई.) और उसके प्रायः एक शताब्दी बाद 'कलावाद' का आन्दोलन मूलतः फ्रांस में ज़ोर पकड़ता है। 'कलावाद' पर प्रथम

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



आग्रह गॉतिए का है (1832), जिस के पीछे प्रसिद्ध दार्शनिक काँट का चिंतन माना जाता है (18वीं शती), जिसके अनुसार कला का निर्णायक कोई बाहरी मापदण्ड नहीं हो सकता।

भारतीय शास्त्रों में कला-प्रयोजनों की स्पष्ट चर्चा हुई है। पर इस प्रसंग में सबसे प्रसिद्ध रचनाकार का स्वयं अपना साक्ष्य है—तुलसीदास का। **रामचरितमानस** के आरम्भ में ही उन्होंने घोषित कर दिया कि इस काव्य की रचना वे **स्वांतःसुखाय** कर रहे हैं। ऊपर से देखने पर 'स्वांतःसुखाय' और 'कला कला के लिए' सिद्धान्त परस्पर निकट लग सकते हैं। पर हर बड़े रचनाकार की तरह रचना के आरम्भ की उपपत्ति का गहरा सम्बन्ध तुलसी ने समापन की निष्पत्ति से रखा है, जहाँ उन्होंने बताया कि इतने बड़े रचना-उपक्रम का एक ही उद्देश्य है 'स्वांतस्तमःशांतये'। 'स्वांतःसुखाय' की गहरी सर्जनात्मक व्याख्या है यह पद 'स्वांतस्तमःशांतये।' भाव यह है कि मानस की रचना न तो किसी राजा-महाराजा के प्रीत्यर्थ है और न किसी अन्य को उपदेश देने के लिए। यह रचना हुई है अपने मन के विभ्रम, कलुष और पाप को शांत करने के लिए, क्योंकि 'निज भय दीन डरै।' यों तुलसी के लिए रचना-कर्म स्वायत्त है, पश्चिमी विचारधारा की तरह स्वतन्त्र नहीं।

इस प्रसंग में तुलसी के सबसे बड़े आलोचक और मर्मज्ञ रामचन्द्र शुक्ल का दृष्टिकोण भी विचारणीय है। वे अपने साहित्य-चिंतन के केन्द्रीय निबन्ध 'कविता क्या है?' में स्पष्ट कहते हैं—"सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, अनुपयोगी-उपयोगी—ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं।" यह आलोचकीय स्थिति कवि तुलसी के इस अर्थ में निकट है कि रचना स्वांतःसुखाय, स्वायत्त है, किसी बाह्य अभिकरण के दबाव से परे। सौन्दर्य ही उस की एकमात्र कसौटी है। इस 'सौन्दर्य' परिकल्पना को उन्होंने जगह-जगह स्पष्ट किया है, जिसमें एक तत्त्व तो यह है कि सौन्दर्य गत्यात्मक है। अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'काव्य में रहस्यवाद' के आरम्भिक अंश में वे लिखते हैं, "इन दो पक्षों के बिना क्रियात्मक या गत्यात्मक (डायनैमिक) सौन्दर्य का प्रकाश नहीं हो सकता। जहाँ इन दोनों पक्षों में साध्य-साधक सम्बन्ध रहता है, जहाँ इनमें सामंजस्य दिखाई पड़ता है, वहाँ की उग्रता और प्रचण्डता में भी सौन्दर्य का दर्शन होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सौन्दर्य भी मंगल का ही पर्याय है।" सौन्दर्य विषयक आचार्य शुक्ल की दूसरी मान्यता यह है कि आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य में एक गहरी संगति होती है। 'क्षात्रधर्म का सौन्दर्य'—जो आचार्य के सौन्दर्यशास्त्र का एक संक्षिप्त प्रारूप कहा जा सकता है—में वे कहते हैं, "कविता सौन्दर्य और सात्त्विकशीलता या कर्त्तव्यपरायणता में भेद नहीं देखना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



चाहती। इसी से उत्कर्ष साधन के लिए कवियों ने प्रायः अन्तःकरण के सौन्दर्य और रूप-सौन्दर्य का मेल कराया है। राम का रूप-माधुर्य, रावण का विकराल रूप अन्तःकरण के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। बाह्य प्रकृति को भी मिला लेने से कभी-कभी प्रभाव और भी बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों के रम्य अन्तःकरण की छटा का क्या कहना है?'' इस समूचे सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल द्वारा काव्य-मीमांसा के लिए प्रस्तावित 'सुन्दर और कुरूप' की एकमात्र कसौटी की बात ठीक-ठीक समझ में आती है।

भारतीय दृष्टि में परम तत्त्व का संस्पर्श सौन्दर्य का कारक है, पश्चिमी सौन्दर्य-दृष्टि मूलतः ऐहिक है। हमारे यहाँ सौन्दर्य-चित्रण का विशिष्ट आलम्बन देवी का स्वरूप है। कालिदास के यहाँ पार्वती का चित्रण, शंकराचार्य की 'सौन्दर्य लहरी' में भगवती का नख-शिख अंकन, तुलसीदास की सीता—ये सौन्दर्य के मानक हैं। रवीन्द्रनाथ अपने ब्राह्मो संस्कारों के कारण शायद देवी का चित्रण नहीं कर सकते थे तो उन्होंने सौन्दर्य के आलम्बन के लिए स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी को चुना। शंकराचार्य के स्तोत्र-संकलन को 'सौन्दर्य लहरी' नाम ठीक ही दिया गया है—'लहरी' में सौन्दर्य का रूपाकार और गति दोनों एकसाथ व्यंजित होते हैं, 'लहर' से कुछ अधिक ही। तुलसी ने जगज्जननी सीता के लिए कहा है, 'सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छविगृह दीपसिखा जनु बरई'। सीता के सौन्दर्य से ही सौन्दर्य मात्र की परिकल्पना सम्भव हुई है, और अगली अर्द्धाली में 'छविगृह की दीपसिखा' तो कालिदास की प्रसिद्ध दीपशिखा को और सुन्दर कर देती हो जैसे। आधुनिक काल में निराला द्वारा देवी के स्वरूप के कई तरह के चित्रण हैं। सर्वाधिक प्रसिद्ध है **राम की शक्ति पूजा** के चित्र, जहाँ आरम्भ, मध्य और अन्त के तीनों चित्र अपने में विशिष्ट हैं। कविता के अन्त में जब देवी राम की आराधना से सन्तुष्ट होकर प्रकट होती हैं तो कवि कहता है—

***ज्योतिर्मय रूप, हस्तदश विविध अस्त्र सज्जित***
***मंद स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित।***

**तुलसीदास** में तो निराला ने एक विलक्षण ही अंकन किया है। काव्य के अन्तिम अंश में पत्नी द्वारा प्रबोधन के बाद तुलसी को दिखता है कि उन रत्नावती का ही रूपान्तरण माँ शारदा के रूप में हो गया है—'देखा शारदा नीलवसना / हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना'। रामकृष्ण परमहंस और माँ शारदा का सम्बन्ध जैसे यहाँ कवि के लिए प्रेरक हो गया हो।

इसी से जुड़ा एक पक्ष यह भी है कि सविता और अग्नि का पहले स्तवन करने वाले इस देश में सौन्दर्य-प्रकाश एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। कालिदास और तुलसी की 'दीप-शिखा', रवीन्द्र की उर्वशी अनावृतमुख उषा की तरह,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



निराला का सीता का स्मरण, राम द्वारा 'ज्योति: प्रपात स्वर्गीय ज्ञात छवि प्रथम स्वीय', या उपर्युक्त देवी-चित्र 'ज्योतिर्मय रूप'—ये सारे अंकन प्रकाश के प्रतिरूप हैं। छायावादी काव्य तो विशेष रूप से पुनर्जागरण का काव्य है, अत: यहाँ प्रात:कालीन प्रकाश के अनेक रूप हैं, जिनमें प्रसिद्ध अंकन सुमित्रानन्दन पंत का है—'प्रथम रश्मि'।

जगज्जननी के इस अंकन के साथ यदि पश्चिम की कला की तुलना की जाए तो अन्तर बहुत स्पष्ट दिखेगा। वहाँ क्राइस्ट-जननी मेरी के असंख्य अंकन हुए हैं। पाश्चात्य कला-कृतियों में शायद सर्वाधिक। मूर्त्ति-शिल्प-चित्रांकन-काव्य सर्वत्र ही1 पर वहाँ जननी के सिर्फ मुख की भंगिमाएँ अंकित होती हैं, शरीर के ब्यौरे कहीं दृष्टिगत नहीं होते, जबकि भारत में जगज्जननी का पूरा शारीरिक सौन्दर्य चित्रित होता है क्योंकि यहाँ शरीर और आत्मा में अभेद है। यों भारतीय सौन्दर्य परिकल्पना आस्तिकता के विराट् भाव से जुड़ी हुई है, अत: सौन्दर्य-चित्रण अधिकतर शैवाद्वैत से प्रेरित है। सौन्दर्य की चरमता शक्ति के रूप में है। सौन्दर्य को परा शक्ति से स्पन्दित मानने के ही कारण हमारे यहाँ कलावादी आग्रह कभी प्रबल नहीं हुआ। कला-रचना यहाँ स्वायत्त रही, स्वतन्त्र नहीं, उच्छृंखल तो कभी भी नहीं, जिस उच्छृंखलता का प्रतिवाद रवीन्द्रनाथ ने अपने निबन्ध 'सौन्दर्य-बोध' (1906) में संयम का पक्ष सामने रख कर किया है।

अब यदि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की अवधारणा को मूर्त्त रूप देना है तो बल कला-रचना के विविध रूपों पर होना चाहिए, बजाय शास्त्र के। यह ठीक है कि शास्त्र से शास्त्र बनना आसान है, पर बिना कला-रचना को आधार बनाये वह प्रामाणिक नहीं होगा। शास्त्र में दृष्टिकोण प्रमुख है, जबकि दृष्टि रचना में ही होती है। इस सन्दर्भ में आधुनिक साहित्य के विचारों पर भी ध्यान देना होगा, विविध क्षेत्रों की कला-रचनाओं के साथ-साथ। हिन्दी में ,जैसा संकेत किया गया, आचार्य शुक्ल का विचारक्रम शास्त्र और साहित्य-रचना के सन्तुलन में विकसित हुआ है, साथ ही साथ सामान्य जीवन के उदाहरणों से भी उसे बराबर पुष्ट किया गया है। उदाहरण के लिए, पूर्वोल्लिखत 'क्षात्रधर्म का सौन्दर्य' में 'कर्म-सौन्दर्य', यहाँ तक कि 'क्रोध के सौन्दर्य' का विवेचन हुआ है। लेखक कहता है, "हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं कहे गये हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म-सौन्दर्य संघटित करने वाले ही अवतार कहे गये हैं।" या फिर "दशवदन निधनकारी राम के क्रोध के सौन्दर्य पर कोन मोहित न होगा?" यों साहित्य और कला की समूची परम्परा तथा विचारक्रम के बीच से ही सौन्दर्यशास्त्र बनाना होगा, शास्त्र से एक बार फिर रचना की ओर आना होगा। इस अन्तस-क्रिया से शास्त्र में नयी प्रामाणिकता होगी और रचना में ऊर्जा।

**3-बैंक रोड, इलाहाबाद 211 002**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

टिप्पणी

# अनवस्था की विश्रान्ति

**(सन्दर्भ : प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध-विचार,**
**लेखक : यशदेव शल्य — उन्मीलन, जुलाई 2000)**

प्रस्तुत टिप्पणी का सन्दर्भ उन्मीलन के जनवरी 2000 अंक में प्रकाशित 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि अथवा प्रमेयाद्धि प्रमाणसिद्धिः' नामक हमारे निबन्ध पर आचार्य यशदेव शल्य की सारगर्भित प्रतिक्रिया है। शल्य जी ने अपनी सकारात्मक प्रतिक्रिया के माध्यम से उक्त निबन्ध की समस्या को एक व्यापकतर सन्दर्भ में देखने का प्रस्ताव किया है। यह हमारे निबन्ध की सार्थकता है कि इसी बहाने हम लोग एतद्विषयक उनके सारगर्भित विचारों से अवगत हो पाये। 'प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध-विचार' शीर्षक से लिखी गई यह प्रतिक्रिया कुछ ऐसी विचार-गुत्थियों की ओर ध्यान आकृष्ट करती है जिन पर विचार के सिलसिलेवार क्रम में सहसा ध्यान ही नहीं जाता।

शल्य जी अपने नबिन्ध के उपक्रम में ही यह समझा देते हैं कि प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध पर नागार्जुन के आक्षेपों की घेराबंदी कितनी मज़बूत है। पहली बार मुझे उनके इस निबन्ध को पढ़ते हुए यह बात समझ में आई कि नागार्जुन प्रमाण-प्रमेय के लक्षणों का परस्पर सम्प्लव दिखाते हुए एतद्विषयक अपनी परीक्षा में क्यों प्रवृत्त होते हैं? **वैदल्यसूत्र** के प्रथम सूत्र में ही (प्रमाणप्रमेयानि स्वतोऽसिद्धानि, मिथोऽभिसम्प्लुतत्त्वात्) प्रमाण-प्रमेय के लक्षणों का सम्प्लवन बताते हुए यह दिखाया गया है कि किस प्रकार प्रमाण 'प्रमेय का प्रमेय' और प्रमेय 'प्रमाण का प्रमाण' हो जाता है। वस्तुतः कोई भी रचनात्मक प्रमाणमीमांसा प्रमाण-प्रमेय की पृथक्कृत एवं भेदपूर्ण स्थिति पर ही अवलम्बित होती है। नैयायिकों की प्रमाण-मीमांसा का मूलभूत ढाँचा भी ऐसा ही है जिसमें प्रमाणों को भाव-साधन एवं प्रमेयों को साध्यर्थ मानकर दोनों की पृथक्ता एवं भेदरूपता को बनाये रखा जाता है। नागार्जुन प्रमाण-प्रमेय में लक्षण-सम्प्लव बताकर नैयायिकों के प्रमाण-चिंतन की मूल भित्ति को ही ध्वस्त करने का प्रयास करते हैं। यदि प्रमाण और प्रमेय परस्पर परिवर्तनीय हैं तो नैयायिकों की उन सभी निर्मितियों पर दोषारोपण सम्भव हो जाता है जिनको प्रमाण-प्रमेय की आत्यन्तिक भेदपूर्ण स्थिति में निर्मित किया गया है। नागार्जुन की परीक्षा में ऐसे सभी दोषयुक्त विकल्पों की उद्भावना देखी जा सकती है। शल्य जी ने भी अपने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



निबन्ध में प्रमाण-प्रमेयों का अनुक्रमशः सम्प्लव, उनकी सापेक्षिकता और अन्ततः पूरी प्रक्रिया का अनवस्थित हो जाना बहुत अच्छे तरीके से बताया है।

हम यहाँ शल्य जी की बात को ही आगे बढ़ाते हुए यह प्रश्न उठाना चाहेंगे कि प्रमाणों की सिद्धि का प्रश्न उठाया जाना किस प्रकार सम्भव होता है? साधारणतया सिद्धि का प्रश्न साध्यर्थ से सम्बन्धित प्रश्न है। ध्यातव्य है कि भाव-साधन की भूमिका वाले प्रमाणों की सिद्धि का प्रश्न तब तक नहीं उठाया जा सकता जब तक कि उन्हें प्रमेय के रूप में प्रतिस्थानापन्न न कर दिया जाय। अर्थात् प्रमाण का प्रमेय के रूप में प्रतिस्थापन ही 'प्रमाणसिद्धि' के प्रश्न की पूर्व शर्त है। इस तरह जब प्रमाण-सिद्धि का प्रश्न उठाया जाना सम्भव हो गया तो प्रमाणों की सिद्धि के लिए प्रमाणान्तर की कल्पना करते हुए पूरी व्यवस्था का अनवस्था से ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक ही है। शल्य जी ने ठीक ही कहा है कि "समर्थनों की परम्परा, और स्फुट रूप में कहें तो आवर्ती परम्परा में कहीं पर भी समर्थक का बाध पहले के सभी समर्थनों को अप्रामाणिक बना देता है (पृ. 101)।" वस्तुतः यह मूलोच्छेदक अनवस्था का प्रसंग है। इस मूलोच्छेद का मूल भी प्रमाण-प्रमेय का लक्षण-सम्प्लव ही है।

अब यहाँ विचारणीय है कि इस अनवस्था की विश्रान्ति कहाँ और कैसे सम्भव है? इस प्रसंग में शल्य जी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दृष्टि यह सामने आई है कि यह अनवस्था, जिसे एक असाध्य तर्कदोष के रूप में देखा जाता है, वास्तव में दोष नहीं होकर प्रत्यङ्मुख चेतना की अतलान्त गहनता में अवस्थिति है। उपनिषद् 'ज्ञातारं रे केन विजानीयात्' और 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ...' के द्वारा इसी ओर संकेत करते हैं। अर्थात् यह अनवस्था आत्ममूलक है और इस ओर लोगों का ध्यान, कम से कम प्रमाणों की अनवस्थिति के प्रसंग में, नहीं जाता है। हम शल्य जी से इस महत्त्वपूर्ण दृष्टि के और अधिक विशदीकरण की अपेक्षा रखते हैं।

वस्तुतः प्रमाणसिद्धि का अनवस्थिति-प्रसंग वहीं विश्रान्ति पायेगा जहाँ कोई एक प्रमाण आत्मप्रत्यक्ष और स्वयंप्रकाशता से सबको आलोकित कर दे। वेदान्त में आत्मा की स्वयंप्रकाशता और बौद्धों का स्वसंवेदन ऐसा ही विश्रान्ति-स्थल है। अद्वैत वेदान्त में जहाँ नित्य साक्षी के आलोक में सब कुछ प्रकाशित होता है वहीं बौद्धों के मत में चित्त की प्रत्येक अवस्था आत्मसंवेदन से स्वयं युक्त होती है। नैयायिकों के पास ऐसा कुछ भी उपलब्ध नहीं है। अतएव वे अनवस्था को स्वीकार करते हुए मूलोच्छेदक अनवस्था और व्यवहारोच्छेदक अनवस्था में भेद कर लेते हैं। प्रमाणसिद्धि के प्रसंग में आसन्न अनवस्था उनकी दृष्टि में मूलोच्छेदक तो है लेकिन वह व्यवहारोच्छेदक नहीं है। प्रमाण-प्रमेय की सापेक्षता और तज्जनित अनवस्था की स्थिति में भी मध्यपाती रूप से व्यवहार चलता है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



और माप्य-मापक भाव (प्रमेया च तुला प्रामाण्यवत् — **न्यायसूत्र**, अ. 2) में प्रमाणों की साधनता और प्रमेयों के साध्यर्थ रूप भेद का निर्वाह हो जाता है। इस तरह नैयायिक नागार्जुन के सैद्धान्तिक आक्षेपों को पूर्णतया स्वीकार करते हुए अपने पक्ष का व्यावहारिक समाधान तो खोज लेते हैं लेकिन मूलोच्छेदक अनवस्था अपनी विश्रान्ति की अपेक्षा में अनन्तगामी बनी ही रहती है। यहाँ नैयायिकों की दृष्टि से विचारार्थ एक बात को प्रस्तावित किया जा सकता है कि क्या नैयायिक मूलोच्छेदक अनवस्था का समाधान करने के लिए ईश्वर को अवलम्ब बना सकते हैं? क्योंकि उनका ईश्वर विश्वविद् है और उसकी चेतना या ज्ञान स्वयंप्रकाश भी है।

अन्त में प्रकृत समस्या को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की शल्य जी की मूलगामी दृष्टि अवान्तर रूप से इस प्रश्न पर भी विचार के लिए उत्प्रेरित करती है कि नागार्जुनकृत प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध की परीक्षा का दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के द्वारा प्रतिपादित प्रमाण-मीमांसीय ढाँचे पर क्या प्रभाव पड़ा है। यदि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति द्वारा विकसित प्रमाण-मीमांसा पर नागार्जुन के आक्षेप यथावत् प्रयुक्त होते हैं तो उनके प्रयास को उत्तम नहीं कहा जा सकता। मुझे ऐसा लगता है कि बौद्ध नैयायिकों ने प्रमाण-मीमांसा का ढाँचा बनाते हुए नागार्जुन के मूलभूत आक्षेपों से बचने का हर सम्भव प्रयास कई स्तरों पर किया है। ध्यातव्य है कि नागार्जुन की परीक्षा का ऐतिहासिक पूर्वपक्ष नैयायिकों की प्रमाण-मीमांसा रही है जिसकी मूलभूत मान्यतां 'मानाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः' है। यह बात **वैदल्यसूत्र** से सुतरां स्पष्ट होती है। बौद्ध नैयायिक इसके विपरीत 'मेयाधीना मान सिद्धिः' की मूलभूत मान्यता पर अपनी प्रमाण-मीमांसा को खड़ा करते हैं। 'मेयाधीना मान सिद्धिः' की मौलिक दृष्टि पर अवलम्बित प्रमाण-मीमांसा में प्रमाणसिद्धि का प्रश्न उतना मूलभूत नहीं होता जितना कि प्रमाण-निरपेक्ष प्रमेयों के अस्तित्व का प्रश्न मूलभूत होता है। बौद्ध नैयायिक इस समस्या का समाधान 'द्वैराश्यभेद' की अवधारणा के द्वारा सफलतापूर्वक कर ले जाते हैं। द्वैराश्यभेद की अवधारणा का यहाँ सम्पूर्ण विवेचन सम्भव नहीं है। इसके बावजूद यदि उनके मत में प्रमाणसिद्धि का प्रश्न उठाया जाय तो तज्जनित अनवस्था चित्त की प्रत्येक अवस्था के आत्मसंवेदन युक्त होने में विश्रान्ति पाती है।

इस तरह शल्य जी की सकारात्मक प्रतिक्रिया से बहुत सारी दृष्टियाँ उन्मीलित हुई हैं। विचारक्रम में उनका विपाक होता रहेगा और समय-समय पर हम अपने लेखन में उनके प्रकटीकरण का भी प्रयास करेंगे।

**अम्बिकादत्त शर्मा, सागर**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



# स्पष्टीकरण

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा ने मेरे लेख पर टिप्पणी में अनवस्था-प्रसंग की विश्रांति की जो बात कही है वैसा मेरा कोई मंतव्य नहीं है। मैंने अनवस्था-विश्रांति का कोई मार्गान्तर नहीं सुझाया है, बल्कि अनवस्था को ही दूसरा आयाम दे कर उसे प्रमेय की तत्त्व-गहनता में प्रवेश का मार्ग देने वाला कहा है। इस दृष्टि का मूल प्रतिपादन मेरे **चिद्विमर्श** पुस्तक के प्रथम अध्याय 'दर्शन का आरम्भ-बिन्दु' में तथा **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** पुस्तक के प्रथम अध्याय 'दर्शन के आधार' में हुआ है और इसे चिद्विमर्श तथा उसके बाद के मेरे सम्पूर्ण दार्शनिक विवेचन के आधार-स्तम्भ के रूप में देखा जा सकता है।

**यशदेव शल्य**

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# उन्मीलन-गोष्ठी 1

**विषय—मूल्यविषयक औपनिषद दृष्टि**
**विषय प्रस्ताव नन्दकिशोर शर्मा**

यह गोष्ठी 8 मई, 2000 को प्रोफेसर दयाकृष्ण के घर पर हुई और इसमें निम्नलिखित ने भाग लिया—

प्रो. दयाकृष्ण, डॉ. नन्दकिशोर शर्मा, डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, श्री यशदेव शल्य, डॉ. के.एल. शर्मा, डॉ. सरला कल्ला, डपॅ. मुकुन्द लाठ, डॉ. योगेश कुमारी गुप्ता, डॉ. अंजु ढड्ढा, डॉ. रंजु महता तथा डॉ. कमलनयन। डॉ. नन्दकिशोर शर्मा के व्याख्यान के बाद इस पर विस्तृत विचार-विमर्श हुआ जिसमें सभी ने भाग लिया। उसका विवरण नहीं लिखा जा सका इसलिए सब से अपनी टिप्पणियाँ लिखकर भिजवाने को कहा गया। किन्तु केवल डॉ. भटनागर की टिप्पणी ही प्राप्त हुई जिस पर डॉ. नन्दकिशोर शर्मा का स्पष्टीकरण और श्री यशदेव शल्य की उन पर प्रतिक्रिया लिखवाई गई। डॉ. नन्दकिशोर शर्मा के वक्तव्य का सार भी श्री यशदेव शल्य ने ही लिखा क्योंकि डॉ. शर्मा जयपुर से बाहर चले गये थे। यह वक्तव्य तथा टिप्पणियाँ-प्रतिटिप्पणियाँ नीचे दी जा रही हैं।

सरला कल्ला

**नन्दकिशोर शर्मा**

उपनिषद् जगत् की उत्पत्ति का मूल एक की अनेक होने की इच्छा में देखते हैं जिसे वे आत्म-सृजन भी कहते हैं—**आत्मा वा इदमेक अग्र आसीत्। नान्यत् किंचनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।** इसे वे उसका अपना सृजन भी कहते हैं—**स आत्मानं स्वयमकुरुत।** यह सृजन स्वभावत: मूल्य से प्रेरित ही हो सकता है क्योंकि सृजन में चेतना आत्मगत सम्भावनाओं को ही चरितार्थ करती है और इस प्रकार समृद्धि-लाभ करती है। उपनिषदों में आत्मा को निर्गुण रूप में देखा गया है—"असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।" यहाँ 'असत्' शब्द अनभिव्यक्त और निर्गुण तत्त्व का ही वाचक है। प्रश्न हो सकता है, यह असत्—निर्गुण, सत् में—जगत् रूप में, सगुणता में, व्यक्त क्यों होना चाहता है? इसका उत्तर निम्न प्रश्न द्वारा दिया जा सकता है कि 'कलाकार कविता, चित्र, संगीत आदि की रचना क्यों करना चाहता है,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



विचारक विचार क्यों करना चाहता है?' इन कर्मों का इनसे बाहर कोई दूसरा प्रयोजन नहीं हो सकता। यही बात आत्मा, या कहें परमात्मा, के जगत्-सृजन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। शुद्ध आत्मतत्त्व या परब्रह्म के इस निष्प्रयोजन सृजन को ही 'लीला' कहा गया है।

किन्तु सब सृजनों से एक प्रयोजन सिद्ध होता है—आत्मगत सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति द्वारा चेतना का आत्म-लाभ। यद्यपि इसमें कुछ नया उत्पन्न नहीं होता, केवल अव्यक्त ही व्यक्त होता है—पूर्णमदः, पूणमिदं, पूर्णात् पूर्णमदुच्यते, पूर्णात्पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। कवि कविता की सृष्टि में और कुछ नहीं करता केवल भावनागत अर्थों को शब्द-रूप में व्यक्त करता है, चित्रकार भी नया कुछ नहीं रचता, प्रकृति, आकृति या आत्मा में निहित अनभिव्यक्त अर्थों की रंग-रेखाओं में प्रतिकृति मात्र प्रस्तुत करता है। उपहित चेतना आत्मा के आत्म-क्रियान्वयन के क्रम में बाहर-भीतर आपतित असत् के निवारण द्वारा अपनी प्रकृत अवस्था का लाभ सम्पादन करती है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि आत्मा, जो ब्रह्म ही है, वह तो पूर्ण ही है, उसे कोई लाभ कैसे हो सकता है? इसका उत्तर होगा कि एक पूर्णता अव्यक्त की है और दूसरी पूर्णता व्यक्त की। अव्यक्त अभिव्यक्ति की अनन्त सम्भावनाओं से अन्तर्गर्भ रहता है—एक ही प्रत्यय अनेक प्रकार से और प्रत्येक प्रकारता में अनन्त रूप से विचार्य होता है।

अभिव्यक्ति का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि वह अभिव्यंग्य को अनन्त और अगाध सम्भावनाओं के रूप में ही व्याकृत कर सकती है और इस प्रकार स्वयं उससे न्यून ही बनी रहती है। इस तरह अभिव्यंग्य को उसकी समग्रता में, अथवा कहें अपने को अपनी अन्यूनता में पाना यही मूल्य हो जाता है। 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो!' का यही अर्थ है। श्वेतकेतु असंख्य सम्भाव्य श्वेतकेतुओं में से केवल एक ही हो सकता है और उद्दालक आरुणियों और बुद्धों की सोपान-परम्परा में निम्नतम से ऊर्ध्वतम किसी एक सोपान पर ही हो सकता है। ये सब प्रत्येक भी ब्रह्म हैं और तब भी सब मिलकर भी ब्रह्म से न्यून हैं। इसी न्यूनता और पूर्णता के अन्तराल में मूल्य की अन्वेष्यता बनी रहती है।

**राजेन्द्रस्वरूप भटनागर**

नन्दकिशोर जी के कथ्य को जिस रूप में शल्य जी ने रखा है वह स्वयं शल्य जी के मत एवं दृष्टि के निकट ही प्रतीत होता है। यदि शल्य जी नन्दकिशोर जी के विचार से अपने विचार के भेद के विषय में भी कोई इशारा कर देते तो सुविधाजनक रहता।

इस प्रस्तुति के विषय में कुछ विचार-बिन्दु प्रस्तुत हैं—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



आरम्भ में ही स्थापना की गई है कि "उपनिषद् जगत् की उत्पत्ति का मूल 'एक की अनेक होने की इच्छा' में देखते हैं जिसे वे 'आत्मसृजन' भी कहते हैं।" ... परन्तु उपनिषदों में अनेकता अथवा नानात्व के बोध को भ्रामक एवं मिथ्या भी कहा गया है। इस रूप में अनेक अथवा नाना मूल्य अथवा श्रेय नहीं हो सकता। इस प्रकार 'निर्गुण से सगुण में आत्मसृजन' मूल्य का स्रोत कैसे हो सकता है?

दूसरे, यह स्थापना कि 'चेतना' सृजन में, 'आत्मगत सम्भावनाओं को ही चरितार्थ करती है' चेतना की इस दूसरी अवधारणा से टकराती है जिसमें प्रथम तो वह विषय से नितान्त भिन्न होती है, दूसरे वह विषय मात्र से रिक्त होती है। चेतना से इतर जो कुछ भी है या होता है, वह आता है, जाता है, परन्तु चेतना सदैव बनी रहती है। वस्तुत: चेतना में किसी सम्भावना की उद्भावना करना उसके स्वरूप की अनदेखी करना है। यह मानना कि उसमें कुछ अनभिव्यक्त है जो अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा में रहता है, एक वदतोव्याघात होगा।

'एक से अनेक होने की इच्छा' की बात पर पुन: विचार करें। प्रश्न उठाया गया है, इस इच्छा का प्रयोजन क्या है? क्यों होती है ऐसी इच्छा? लौकिक रचनाकार के दृष्टान्त के निमित्त से समझा गया है कि ऐसी इच्छा का कोई बाहरी उत्स नहीं होता। अन्य शब्दों में, 'एक' का होना ही 'अनेक होने की इच्छा' से गर्भित होता है। जहाँ तक लौकिक रचनाकार का प्रश्न है, यह धारणा निर्मूल है कि सृजन की इच्छा में किसी भी बाहरी उद्दीपन की भूमिका नहीं होती। यह ध्यातव्य है कि बाहरी उद्दीपन कोई एकाकी घटक नहीं है। वस्तुत: वह एक बृहत् परिप्रेक्ष्य की ओर इंगित करता है, ऐसा परिप्रेक्ष्य जिसमें स्वयं रचनाकार की स्थिति मूलित होती है।

पौराणिक कल्पनाओं के सन्दर्भ से लौकिक रचनाकार की स्थिति को अधिक सही रूप में समझा जा सकता है। 'लीला' की अवधारणा एक पौराणिक अवधारणा है। असंख्य आख्यान जो 'लीला' को रूप तथा अभिव्यक्ति देते हैं, उन सभी सांसारिक घटकों से विन्यस्त होते हैं जो मानवीय जीवन के साधारण अंग हैं। यदि इन सांसारिक घटकों को हटा लिया जाये तो 'लीला' में कोई अन्तर्वस्तु नहीं रहेगी। उस अवस्था में प्रभु की लीला असम्भव हो जायेगी। (यूं तो प्रभु के लिए असम्भव क्या हो सकता है?) क्या ऐसा नहीं है कि लौकिक रचनाकार की कल्पना की सम्पूर्ण सामग्री उसी परिवेश से प्राप्त होती है जिसमें वह जीता है? उसे रूप देने में, उसके माध्यम से कुछ कहने में, निश्चय ही वह कुछ अपनी बात भी प्रस्तुत करता है, परन्तु क्या वह अन्तर्वस्तु से नितान्त असम्बद्ध हो सकती है? क्या तब उसमें कोई सार्थकता रहेगी?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



मकडी का जाल महज़ एक रूपक है, यदि मकड़ी कुछ खायेगी नहीं तब वह अपने से जाल का ताना-बाना उत्पन्न नहीं कर सकेगी।

निर्गुण से सगुण की ओर गति क्यों होती है, अथवा इस गति का प्रयोजन क्या है? यह प्रश्न उठाकर इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है। कहा गया है कि गति का प्रयोजन तो है परन्तु वह बाहरी नहीं है। कुछ ही शब्दों के बाद प्रयोजन के स्थान पर 'निष्प्रयोजन सृजन' या 'लीला' का उल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ में एक बिन्दु भाषा के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। जब अलौकिक अथवा अनुभवातीत का प्रसंग होता है तब भाषा का प्रयोग कुछ इस तरह होता है कि कहने वाला शब्दों को साधारण अर्थ के आधार पर चुनता है, परन्तु वह शब्द-प्रयोग इस रूप में करता है कि वह साधारण अर्थ विलुप्त हो जाता है या गौण हो जाता है। किन्तु इस प्रक्रिया का फल क्या होता है? बोधगम्य क्या रहता है? विवेचन भी होता है, साथ ही कथ्य को अनिर्वचनीय भी कह दिया जाता है। वह स्थिति कुछ कुछ उसी प्रकार की होती है जैसी उस प्रयास में जो शब्द-व्यापार को उस स्थल पर लाकर छोड़ देता है जहाँ फिर स्वानुभूति की अपेक्षा रह जाती है। परन्तु अलौकिक अनुभूति को साधारण अनुभूति से भिन्न माना जाता है, उसे विलक्षण कहा जाता है। इस अवस्था में बोधगम्यता का क्षेत्र पीछे छूट जाता है। 'प्रयोजन' तथा 'निष्प्रयोजन' के प्रयोग भी कुछ इसी प्रकार के हैं।

फिर 'लीला' संरचना-विहीन नहीं होती। किसी भी कथा के समान उसमें कुछ ऐसे घटक होते हैं जिनके परस्पर विरोध से लीला का आरम्भ तथा विकास होता है, तथा अवांछनीय घटक के परिमार्जन अथवा निवारण में ही लीला की परिसमाप्ति होती है। इस प्रकार की संरचना तथा उसका परिष्कार स्वतः निस्सृत नहीं होते। समस्या तथा समाधान, जो कथा अथवा लीला के सार तत्त्व कहे जा सकते हैं, निर्गुण की अवधारणा से नितान्त भिन्न होते हैं।

प्रयोजनता तथा निष्प्रयोजनता के बीच तनाव लेखक को पुनः 'लाभ' को लेकर प्रश्न उठाने के लिए बाध्य करता है। ब्रह्म यदि पूर्ण है, सिद्ध है तब उसके 'चरितार्थन-लाभ' का क्या अर्थ हो सकता है? इसके उत्तर में एक दिलचस्प बात यह कही गई है कि पूर्णता अव्यक्त की भी होती है तथा व्यक्त की भी। अव्यक्त की पूर्णता को अनन्त सम्भावनाओं से अन्तर्गर्भ बताया गया है। अब यदि कोई कहे कि अनेक सम्भावनाओं में से कुछ अभिव्यक्त हो जाती हैं, तब क्या यह नहीं होगा कि कुछ सम्भावनाएँ चरितार्थ हो जाने पर मूल सम्भावनाएँ कम हो गईं? दूसरे, क्या व्यक्त की पूर्णता उसी प्रकार की पूर्णता होगी जिस अर्थ में अव्यक्त की पूर्णता? व्यक्त व्यक्त होने के कारण नाशवान् होगा और नाशवानता पूर्णता की अंग नहीं हो सकती। अव्यक्त को तो शाश्वत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



समझा जाता है, तब उसकी पूर्णता में शाश्वतता अंगभूत होगी। पुनश्च, पूर्णता को परिमाणात्मक रूप में ग्रहण करें याकि गुणात्मक रूप में?

फिर, निर्गुण को अव्यक्त अथवा असत् कहना कहाँ तक समीचीन है? जो निर्गुण में विश्वास करते हैं उनके लिए तो वही है, अन्य कुछ भी नहीं है। जो है वह अव्यक्त अथवा असत् कैसे?

एक बिन्दु और : 'लीला' की अवधारणा तथा 'सम्भावना के चरितार्थ होने' की अवधारणा एक-दूसरे से भिन्न हैं। 'लीला' की अवधारणा में स्रष्टा तथा कृति की भिन्नता पूर्वापेक्षित है, सम्भावना के चरितार्थन में एक ही वस्तु की दो अवस्थाओं की बात अन्तर्हित होती है। सम्भावना चरितार्थन के बाद अपना अव्यक्त रूप खो देती है, जबकि 'लीला' के होते लीलाकर्त्ता का अस्तित्व बना रहता है। लीला तथा सम्भावना के चरितार्थन में इस भेद को ध्यान में रखें तब निर्गुण से सगुण रूप में संक्रमण के लिए एक साथ दोनों को दृष्टान्त बनाना ठीक नहीं होगा।

इस प्रस्तुति में अलौकिक सन्दर्भ मूल्य के उत्स की व्याख्या को और अधिक समस्यामूलक बना देता है। यदि इस सन्दर्भ को छोड़ कर साधारण मानवीय क्रिया-व्यापार का सन्दर्भ ही लें तो कदाचित् मूल्य के उत्स की व्याख्या करना कम समस्यामूलक हो।

**नन्दकिशोर शर्मा**

डॉ. भटनागर की आपत्तियों का बिन्दुवार उत्तर निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

1. उपनिषदों के अनुसार सृष्टि मिथ्या है, यह मात्र शांकर अद्वैत वेदान्त का मत है। उपनिषदों के व्याख्याकार अन्य आचार्य सृष्टि को सत् रूप ही स्वीकार करते हैं। इसी दृष्टि से सृष्टि के स्वरूप को समझने की आवश्यकता भी है।

2. दूसरी आपत्ति भी उपनिषद् की इसी अद्वैत वेदान्त की व्याख्या पर आधारित है।

3. जब हम चेतना से सृष्टि को प्रसूत कहते हैं तो इसे समझने के लिए अलंकारों एवं संकेतों का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। भाषा को अभिधा रूप में समझने में ही कठिनाई होती है। सृष्टि कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है। ऐसा कदापि मंतव्य नहीं है कि काल विशेष के पूर्व मात्र निर्गुण चेतना थी जिसे रचनाकार कहा जाता है तथा एक निश्चित समय पर उस रचनाकार ने इस सृष्टि की रचना की। कलाकार का दृष्टांत इसलिए लिया जाता है कि इस उदाहरण से चेतना की स्वतःस्फूर्ति को समझने में सहायता मिलती है। सृष्टि चेतना की स्वतःस्फूर्ति है। कलाकार के परिवेशजन्य अन्य प्रसंग हो सकते हैं किन्तु उसकी कला की व्याख्या उन परिवेशों का फलन मान लेने से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



कला की मौलिकता का ह्रास होता है। ऐसा प्रयास किया अवश्य गया है किन्तु यह प्रयास कला के पक्ष में आत्मघाती ही सिद्ध हुआ है।

4. जब हम सृष्टि के स्वरूप को समझने का प्रयास करते हैं तो लीला से वह तात्पर्य नहीं होता जो डॉ. भटनागर ने लिया है। यहाँ लीला से आशय सृष्टि की ऐतिहासिकता से नहीं है। यहाँ पर लीला से मात्र यह तात्पर्य है कि वह चेतना के स्वरूप की स्वत:स्फूर्त अभिव्यक्ति है जिसका प्रयोजन केवल उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति है। यह शब्द इसलिए रचा गया है कि चेतना की स्वत:स्फूर्ति का लौकिक रचनाकारों की क्रियाओं से भेद किया जा सके। पूछा जा सकता है कि चेतना में स्वत:स्फूर्ति क्यों होती है? वह अभिव्यक्त क्यों होती है? अपने अव्यक्त निर्गुण स्वरूप में ही प्रतिष्ठित क्यों नहीं रहती? तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि यह उसका स्वरूप है और किसी वस्तु के स्वरूप के विषय में क्यों का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता।

लीला संरचना-विहीन नहीं होती, इसीलिए इसे लीला कहा गया है, अन्यथा तो सृष्टि की व्याख्या जड़ तत्त्वों से उत्पन्न संघात के रूप में आसानी से की जा सकती थी। सृष्टि की संरचना का स्रोत चेतना से बाहर खोजने का प्रयास लीला के प्रत्यय का ही व्याघाती है।

डॉ. भटनागर चेतना को कुछ इस प्रकार समझ रहे हैं जैसे वह मिट्टी आदि भौतिक पदार्थ हो। एक किलो मिट्टी में से पाव भर निकाल ली तो बस तीन पाव बच रही। वास्तव में चेतना का यह स्वरूप नहीं होता। चेतना की एक सम्भावना के व्यक्त होने से वह उस निर्गुण चेतना से अलग होकर उसमें कमी ला देगा ऐसा नहीं होता। व्यक्त होने पर भी उसके अव्यक्त स्वरूप का नाश नहीं होता, यही निर्गुण से सगुण की नि:सृति का मूल आधार है। कवि ने कविता रच दी तो उस रचना का बीज उसमें से निकल कर निश्शेष हो गया, यह मान्यता ही हास्यास्पद लगती है। जब उपनिषद् कहते हैं कि 'पूर्ण में से पूर्ण उत्पन्न होने पर भी वह पूर्ण ही बच रहता है' तो इससे उनका यही आशय है।

**यशदेव शल्य**

डॉ. भटनागर ने नन्दकिशोर जी के वक्तव्य की मेरे द्वारा प्रस्तुती पर प्रश्न किया है कि यदि मैं इसमें नन्दकिशोर जी के मत से अपने मत की भिन्नता भी बता देता तो अच्छा रहता। यहाँ दो बातें हैं। प्रथम यह कि नन्दकिशोर जी के वक्तव्य की प्रस्तुति मेरे विचार की प्रस्तुति से अलग ही होनी चाहिए। दूसरे, नन्दकिशोर जी ने भी उपनिषद् का विचार प्रस्तुत करने का दावा ही किया है। उसकी व्याख्या में मतभेद हो सकता है किन्तु मेरा उसमें उनसे कोई मतभेद नहीं है। डॉ. भटनागर ने नन्दकिशोर जी के प्रस्तुतीकरण पर जो आपत्तियाँ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



उठायी हैं वे वास्तव में उनकी व्याख्या की सम्यक्ता पर नहीं होकर उपनिषद् की दृष्टि पर हैं, जिसका अर्थ हो जाता है कि वे भी नन्दकिशोर जी द्वारा प्रस्तुत उपनिषद् की व्याख्या को स्वीकार कर रहे हैं। तब नन्दकिशोर जी और भटनागर जी में जो मतभेद रह जाता है वह उपनिषद्-दृष्टि के औचित्य के विषय में है जिस दृष्टि का नन्दकिशोर जी समर्थन कर रहे हैं। उस दृष्टि पर भटनागर जी ने जो आपत्तियाँ उठायी हैं उनका समाधान नन्दकिशोर जी ने करने का प्रयत्न किया है। वह समाधान भी मुझे तो ठीक ही लगता है, केवल नन्दकिशोर जी ने भटनागर जी की आपत्तियों की प्रकृति को पहचान कर उसके उल्लेखपूर्वक समाधान प्रस्तुत नहीं किये, जिससे ऐसा लगता है जैसे उन्होंने अपने पूर्व प्रतिपादन को दुहरा मात्र दिया हो। डॉ. भटनागर की आपत्तियों की प्रकृति लोक-साधारण की ऐसी आपत्तियों या युक्तियों जैसी है जैसी ईश्वर के अस्तित्व को लेकर दी जाती हैं कि "वह है तो दिखाओ कि कहाँ है?" उनकी युक्तियों का यह स्वरूप भाषा के अभिधात्मक प्रयोग से भिन्न प्रयोग पर की गई उनकी टिप्पणी से स्पष्ट है। इसलिए मैं उनकी आपत्तियों का उत्तर उनके बोध की इस कठिनाई को ध्यान में रखकर देने का प्रयत्न करूंगा। किन्तु इस प्रयत्न से पहले यह स्वीकार करना आवश्यक है कि जब तक प्रश्नकर्त्ता लोक-बुद्धि के स्तर से उठकर समझने का प्रयत्न नहीं करेगा तब तक उसे कुछ नहीं समझाया जा सकता। जैसे कोई 'चन्द्रमुखी' शब्द-प्रयोग पर यह आपत्ति उठाए कि 'चाँद जैसे चपटे और चमकीले मुँह वाली को सुन्दर कैसे कहा जा सकता है?' तो उसे नहीं समझाया जा सकता। यों बातचीत में एक बार डॉ. भटनागर ने 'दुःख आदि मनःस्थितियों को शब्दों के अभिधेयार्थ कैसे माना जा सकता है?' इसमें भी कठिनाई बतायी थी। वे माने हुए थे कि केवल बाह्येन्द्रियविषय वस्तुओं को ही अभिधेयार्थ रूप में समझा जा सकता है।

उनका पहला प्रश्न है—उपनिषद् ने नानात्व देखने वाले को भ्रम-ग्रस्त कहा है तब 'उस एक के नाना होने की इच्छा करने को मूल्य कैसे कहा जा सकता है?' इस प्रश्न की स्थूलता को देखने के लिए यह प्रश्न विचारणीय होगा कि उपनिषदों ने ये दोनों बातें कहीं हैं तो क्यों कही हैं, क्या आपने यह समझने का प्रयत्न किया? या कि आप मानते हैं कि उपनिषद् की इन दो बातों में स्पष्टतः अपरिहार्य अन्तर्विरोध है? इसका उत्तर यह है कि एक को नाना होते कहा गया है, इसलिए **नानात्व स्वरूपतः एक ही का नानात्व** है। नानात्व के इस आधार ऐक्य को नहीं देखना और नानात्व को ही सत्य देखना, इसे भ्रांति कहा गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



2. दूसरी आपत्ति है कि चेतना विषय से नितान्त भिन्न है तब सृजन को चेतना का आत्म-चरितार्थन कैसे कहा जा सकता है? इसके लिए उनकी युक्ति है कि ''विषय तो आते-जाते रहते हैं और चेतना वैसी की वैसी बनी रहती है।'' इससे उनका आशय होना चाहिए कि हम कभी घड़े को देखते हैं, कभी दीवार को, कभी भूमि को। ये विषय अलग-अलग हैं और चेतना से भी अलग हैं, क्योंकि 'देखना' तो एक ही रहता है जबकि दिखायी देने वाले विषय दृष्टि-केन्द्र में परिवर्तनों के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। यह आपत्ति और इसके पीछे युक्ति भी ठीक वैसी ही है जैसी प्रथम आपत्ति और उसकी युक्ति। दर्शन में यह एक निर्विवाद बात है कि कोई वस्तु चेतना के बिना 'विषय' नहीं बनती। दर्शन में विवाद इस बात को लेकर है कि विषय से, जो कि चेतनान्तर्गत होता है, बाहर कोई स्वतन्त्र वस्तु भी होती है या नहीं? अब रही चेतना के विषय से पृथक् 'एक' होने की बात। चेतना को सविषया ही माना जाता है, निर्विषय चेतना को 'चैतन्य' कहा जाता है। किन्तु कुछ भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों को छोड़ कर विश्व में दूसरा शायद ही कोई दर्शन-सम्प्रदाय हो जो निर्विषय चैतन्य जैसी किसी वस्तु को स्वीकार करता हो। किन्तु विषय केवल बाह्य वस्तुएँ ही नहीं होतीं, विचार, अनुभव आदि भी विषय होते हैं। बाह्य वस्तुओं में भी घट, पट आदि चेतना के भीतर से ही कुछ 'बाहर' आया होता है। घट को क्या घटकार की चेतना की अभिव्यक्ति नहीं मानेंगे? और इस प्रकार सारे ही मानवीय जगत् को? इसके सम्बन्ध में मैं डॉ. भटनागर को मेरी **चिद्विमर्श** पुस्तक में 'मनुष्य और जगत्' अध्याय देखने का परामर्श दूँगा। 'अनभिव्यक्त अभिव्यक्त होता है' इसमें वदतोव्याघात भटनागर जी को कैसे दिखायी दिया? यदि 'अभिव्यक्ति' शब्द का कोई अर्थ है तो 'अनभिव्यक्त' का भी कोई अर्थ होना चाहिए और 'अभिव्यक्त केवल अनभिव्यक्त रहा होने वाला कुछ' ही हो सकता है, उसके बिना 'अभिव्यक्त' शब्द ही निरर्थक होगा। जहाँ तक विषयों के आते-जाते रहने और चेतना के एक बने रहने का प्रश्न है, इसे वे जल और वीचि की उपमा से समझ सकते हैं।

3. तीसरी आपत्ति कुछ लम्बे-चौड़े आकार की है, किन्तु इसमें वे क्या कहना चाहते हैं इसका पूरा भेद अन्त में जा कर खुलता है कि 'यदि मकड़ी कुछ खाये नहीं तो जाले के लिए लार कहा से आयेगी?' इसे वे 'अन्तर्वस्तु' कहते हैं। इसके पीछे बात यह छिपी है कि ऊर्णनाभ (मकड़ी) जाले को वैसे ही बाहरी उपादान से बनाता है जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है, चित्रकार चित्र को (रंग से) बनाता है। ठीक। किन्तु कवि कविता किस बाहरी उपादान से बनाता है? दार्शनिक सिद्धान्त और उसकी प्रतिपादक युक्तियाँ किस बाहरी उपादान से बनाता है? भाषा और बाहरी उद्दीपनों (इम्प्रेशंस्) से?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



उपहासास्पदता की यह पराकाष्ठा होगी। कैसे मिट्टी आदि उपादान भी 'बाहरी' नहीं होते, यह भी हमने 'मनुष्य और जगत्' अध्याय में दिखाया है। किन्तु मान लें कि ये बाहरी भी हों, तो भी इससे 'घट' बाहरी नहीं हो जाता, क्योंकि वह घटत्व कल्पना (प्रत्यय) की बाह्याभिव्यक्ति होता है, मिट्टी केवल उसके लिए एक उपादान होती है। ऊर्णनाभ जाला लार से ही बनाता है और लार खाने से ही बनती है यह ठीक है, किन्तु खाना तो कुत्ता भी खाता है और हम भी खाते हैं, किन्तु जाला ऊर्णनाभ ही बनाता है। कहें, ऊर्णनाभीय चेतना ही बनाती है।

अब रही 'एक के अनेक होने की **इच्छा के प्रयोजन**' की बात। यह 'इच्छा का प्रयोजन' क्या बला होती है? भटनागर जी क्या 'इच्छा' और 'प्रयोजन' में भेद बताने का कष्ट करेंगे? सब प्रयोजन इच्छामूलक ही होते हैं। डॉ. भटनागर पूछते हैं कि "एक की एक से अनेक होने की इच्छा **क्यों** होती है? अर्थात् **किस प्रयोजन** से?" यदि इसका उत्तर दें कि 'अनेक होने के प्रयोजन से' तो इसमें क्या युक्ति-दोष या भाषा-दोष होगा? भटनागर साहिब ने इच्छा के 'बाहरी उत्स' की बात की है। किसी इच्छा का क्या कोई बाहरी उत्स भी होता है? पेटू की रसगुल्ला खाने की इच्छा का उत्स भी बाहरी नहीं होता यह भटनागर साहिब ज़रा सोच कर देखेंगे तो जान जाएंगे। किन्तु उपनिषद् में 'अकामयत' शब्द का प्रयोग साधारण अर्थ में नहीं है, क्योंकि कामना किसी अन्तर्गत अभाव या न्यूनता की सूचक होती है और उपनिषद् 'उस' (सः) में किसी न्यूनता को नहीं मानते। नन्दकिशोर जी ने जो कहा है कि 'एक के बहु होने की इच्छा और एक का बहु होना' कोई ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं, वह इसी अर्थ में कहा है और वह ठीक है।

आगे निर्गुण से सगुण की ओर गति और उसके प्रयोजन की बात जिस प्रकार उठायी गयी है उसका आशय समझ में नहीं आया। नन्दकिशोर जी के वक्तव्य को देखने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसमें ऐसी कोई समस्या नहीं है। जहाँ तक भाषा के साधारण अभिधात्मक प्रयोग का प्रश्न है, उसका क्षेत्र बहुत सीमित होता है, यहाँ तक कि साधारण बातचीत में भी उसका लक्षणा-व्यंजना में अतिलंघन होता रहता है और वह अनिवार्य होता है। काव्य में भाषा का अधिकांश प्रयोग लक्षणात्मक और व्यंजनात्मक ही होता है, विज्ञान लगभग पूरा ही साधारण भाषा को छोड़ कर गाणितिक संकेतों का प्रयोग करने को बाध्य होता है। यद्यपि उसके संकेत अभिधात्मक ही होते हैं किन्तु उनके वाच्य नितांत असाधारण होते हैं। किन्तु काव्य या विज्ञान के ये प्रयोग अबूझ नहीं होते। यही दार्शनिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी सही है। किन्तु इन विभिन्न क्षेत्रों की भाषा वही तो समझेंगे न जो इन क्षेत्रों के अनुभवों से या

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



विचारों से परिचित होंगे! अब, लीला के सम्बन्ध में भटनागर जी ने जो बात की है उससे स्पष्ट है कि वे उस बोध-क्षेत्र से कोसों दूर हैं जिसमें लीला की बात की गई है, अन्यथा वे लीला में संरचना के परिष्कार और परिष्कार की प्रयत्न-साध्यता की बात नहीं करते।

आगे पूर्ण ब्रह्म के आत्म-चरितार्थन का प्रश्न। यह भटनागर साहिब ने जैसे प्रस्तुत किया है उसकी लोकबुद्धिपरकता नन्दकिशोर जी ने जो प्रदर्शित की है वह ठीक ही है। किन्तु उनकी आपत्ति का जो आरम्भिक वाक्य है वह विचारणीय है। सच्चिदानन्द स्वरूप पूर्ण ब्रह्म जगत् रूप में क्यों प्रवर्तित होता है? नन्दकिशोर जी के वक्तव्य की प्रस्तुति में इसे 'सम्भावना चरितार्थन' के रूप में प्रस्तुत करने में कुछ सीमा तक मेरे विचार का रंग आ गया है। शंकर ने इसे **'विवर्त'** और **'माया'** या 'अविद्या' के द्वारा व्याख्यायित किया है, प्रत्यभिज्ञा दर्शन ने **प्रकाश-विमर्श** की युगानद्धता द्वारा व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है, श्री अरविन्द ने इसे **इन्वोल्यूशन-एवोल्यूशन** कहा है और **श्रीमद्भागवत** ने **लीला** कहा है। मैंने सच्चिदानन्द स्वरूपता को **चरितार्थ्य आदर्श** के रूप में देखा है जिसकी व्याख्या मैंने **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** पुस्तक के अध्याय 2 और 3 में और **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** के अध्याय 2 में विशेष रूप से की है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# उन्मीलन गोष्ठी 2

यह गोष्ठी 22 जनवरी, 2001 को श्री यशदेव शल्य के घर पर हुई। इसमें निम्नलिखित ने भाग लिया—

प्रो. दयाकृष्ण, डॉ. के.एल. शर्मा, डॉ. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, श्री यशदेव शल्य, डॉ. योगेश गुप्ता, श्री आयुष्मान गोस्वामी, श्री अशोक व्यास तथा कु. वर्षा कल्ला। मैंने श्री यशदेव शल्य का 'इतिहास-दर्शन' लेख अपनी समीक्षा के साथ प्रस्तुत किया और अनन्तर उस पर चर्चा हुई। उस चर्चा का विवरण साथ-साथ नहीं लिखा जा सका, केवल प्रो. दयाकृष्ण की टिप्पणियाँ ही लिखी जा सकीं जो नीचे अन्त में दी जा रही हैं। डॉ. नन्दकिशोर शर्मा जयपुर से बाहर गये होने के कारण नहीं आ सके थे, किन्तु उन्होंने अनन्तर अपनी टिप्पणी लिख कर दी। इसी प्रकार डॉ. के.एल. शर्मा ने भी अपनी टिप्पणी लिख कर दी। श्री शल्य का यह लेख अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की पत्रिका **बहुवचन** के अंक 4 में प्रकाशित हो रहा है इसलिए वह यहाँ नहीं दिया जा रहा है, उसका मेरे द्वारा प्रस्तुत सारांश ही दिया जा रहा है। लेख-सारांश, मेरी, डॉ. के.एल. शर्मा, डॉ. नन्दकिशोर शर्मा तथा डॉ. दयाकृष्ण की टिप्पणियाँ और इन सबके श्री शल्य द्वारा दिये गये उत्तर नीचे दिये जा रहे हैं।

सरला कल्ला

**सरला कल्ला**

शल्य जी का 'इतिहास दर्शन' शीर्षक लेख मूलतः विचार के दो बिन्दु सामने रखता है—प्रथमतः, इतिहास क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे विवरणात्मक इतिहास और समग्रात्मक इतिहास और इतिहास-दर्शन के बीच अन्तर को रेखांकित करने का प्रयास करते हैं। तत्पश्चात् वे यह प्रस्थापित करते हैं कि मानव-इतिहास में ऊर्ध्वोन्मुख विकास नहीं है। बहुत से यूरोपीय दार्शनिक जो इतिहास का अर्थ 'मनुष्य का निरन्तर प्रगति-अभियान' रूप में स्वीकार करते हैं उन्हें चुनौती देते हुए शल्य जी उनके द्वारा प्रगति के स्वीकृत अर्थ 'आत्मचेतना' और 'स्वाधीनता' को विचारार्थ स्वीकार करते हुए भी इस निष्कर्ष को कि मानव-इतिहास प्रगति का इतिहास है, अस्वीकार करते हैं। इतिहास-दर्शन की विचार-परम्परा में माइक्रो व मेक्रो इतिहास में जो भेद किया गया है, शल्य जी लगभग वैसा ही कुछ भेद करते हैं किन्तु लेख में कुछ प्रसंगों में उनके द्वारा किया गया समग्रात्मक इतिहास व इतिहास-दर्शन का भेद आरम्भ में स्पष्ट होता हुआ फिर धुंधलाता सा जान पड़ता है। यदि यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



समस्या अभिव्यक्ति की है तब तो और बात है किन्तु यदि वैचारिक रूप से ऐसी ही मान्यता वे वास्तव में रखते हैं कि समग्रात्मक इतिहास व इतिहास-दर्शन के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं है तो यह एक उलझन भरी बात होगी और विचारणीय भी होगी। प्रसंगवश शल्य जी ने सांस्कृतिक इतिहास व राजनैतिक इतिहास के बीच भेद करते हुए जो कुछ कहा है उससे तो स्पष्ट ही ऐसा लगता है कि चाहे राजनैतिक इतिहास, समग्रात्मक इतिहास व इतिहास-दर्शन के मध्य भेद किया जा सके, फिर भी सांस्कृतिक इतिहास यदि समग्रात्मक रूप से लिखा जाये तो उसका इतिहास-दर्शन से भेद करना मुश्किल होगा। मुझे लगता है कि इतिहास की बात करते हुए शल्य जी सांस्कृतिक इतिहास पर ही विचार करते हैं। वे इतिहास को 'चेतना का आत्मचेतन होकर अपने को प्रकृति सें अलग कर लेना' मानते हैं। उनके लिए ''इतिहास का अर्थ सामाजिक मनुष्य का सांस्कृतिक विकास ही है'' (पृ. 14)। अब यह सब जो मैंने कहा यह लेख में इसी क्रम में नहीं है लेकिन मैं समझती हूँ कि लेख में अलग-अलग अंशों में जो कहा गया है, उससे यही तस्वीर बनती है। उनके लेखन का अपना वैशिष्ट्य, जो सर्वत्र उनके लेखों में मिलता है, यहाँ भी है—मनुष्य के बारे में उनकी अपनी अवधारणा और मूल्य-दृष्टि अपने सम्पूर्ण तारतम्य और व्यवस्था में इस इतिहास-चिंतन के आधार में भी झलकती है। इस भूमिका के साथ अब मैं उनके चिंतन को सिलसिले से रखने की कोशिश करती हूँ। इसके बाद कुछ प्रश्न विचार के लिए सामने रखना चाहती हूँ। लेख के आरम्भ में वे लिखते हैं कि इतिहास को सामान्यतया 'मानवीय अतीत विषयक तथ्यों के विवरण व विवरण के विषय दोनों को कहा जाता है, जिसमें एक अतिरिक्त अपेक्षा विवरण-विषयभूत घटनाओं में एक अर्थमूलक अनुक्रम, एक लक्ष्योन्मुख कारण-कार्य परम्परा का होना है।' शल्य जी को इस परिभाषा में गहरी कठिनाई जान पड़ती है। उनके अनुसार, मनुष्य केवल 'विषय' ही नहीं होता विषयी भी होता है और उसके अतीत के क्रिया-कलाप, जो यदि विषय हो भी सकते हैं तो भी परोक्ष होते हैं। दूसरे, इतिहास का विवेच्य विषय 'व्यक्ति मनुष्य' नहीं होकर 'समाज-मनुष्य' होता है। ऐतिहासिक विवरण जातीय जीवन के अंग के रूप में और उस जीवन को समझने के रूप में दिये जाते हैं। स्पष्ट ही, शल्य जी के मतानुसार विवरणात्मक इतिहास, जो स्वरूपतः ही समग्रात्मक नहीं हो सकता, कोई सार्थक इतिहास-लेखन नहीं है। हालांकि उन्होंने ऐसा नहीं कहा है, फिर भी लगता है कि वे तो इसे इतिहास की संज्ञा ही नहीं देना चाहेंगे, क्योंकि इतिहास उनके लिए सामाजिक मनुष्य का सांस्कृतिक विकास ही है। शल्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



जी के अनुसार कुछ विचारक समाज पर विवरणात्मक दृष्टि की अपेक्षा समग्रात्मक दृष्टि से विचार करते हैं।

समग्रात्मक इतिहास-लेखन में भी तादात्म्यपरक व बाह्य दर्शकपरक दो दृष्टियाँ सम्भव हैं। शल्य जी को लगता है कि इतिहासकार मुख्यत: समाज को बाह्य दर्शक की भूमिका से देखता है जबकि कवि और उपन्यासकार उसे तादात्म्य की भूमिका से। पर, आगे अपनी बात संशोधित करते हुए वे कहते हैं कि बाह्य दर्शक की भूमिका से लिखा गया समग्रात्मक इतिहास भी बहुत कुछ किसी समाज की काल-यात्रा में उसकी कालातीत आत्मा के साक्षात्कार जैसा ही होता है, क्योंकि कोई भी घटना समग्रता में इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होती और "इस अतीन्द्रिय ग्राह्य की काल-यात्रा, उस अर्थ के अन्वेषण या चरितार्थन की कथा हो जाती है जो अर्थ काल का विषय नहीं होता।" अब, यहाँ समग्रात्मक इतिहास वस्तुत: इतिहास-दर्शन के बहुत नज़दीक ही जान पड़ता है, क्योंकि वह साक्षात्कारात्मक होता है। अब, शल्य जी विवरणात्मक व साक्षात्कारात्मक इतिहास को दो सर्वथा भिन्न प्रकार के इतिहास-लेखन कहते हैं। आगे वे कहते हैं कि दर्शन का विषय कभी 'विशेष' नहीं होता, बृहत विशेष भी नहीं, अत: किसी एक समाज या संस्कृति पर विचार दर्शन का विषय नहीं होता। दर्शन का उचित विषय संस्कृति मात्र अथवा इतिहास मांत्र के स्वरूप पर विचार ही हो सकता है और यहाँ वे समग्रात्मक इतिहास व इतिहास-दर्शन में भेद करते दिखाई देते हैं। यह अस्पष्टता लेख में बनी रहती है। इस पर कुछ स्पष्टता अपेक्षित है, ऐसा मुझे लगता है।

इतिहास-दर्शन के विवेच्य प्रश्न क्या हैं? इस पर चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि दर्शन का उचित विषय संस्कृति मात्र अथवा इतिहास मात्र का स्वरूप है। संस्कृति क्या है अथवा इतिहास के विकास-क्रम में संस्कृतियाँ क्या सिद्ध करने की उपक्रम हैं; क्या इतिहास समाज विशेष के अस्तित्व का नैरन्तर्य मात्र है अथवा यह उसकी सांस्कृतिक परम्परा की संज्ञा है? इन प्रश्नों के सन्दर्भ से देखें तो यह स्पष्ट है कि शल्य जी के इस लेख का विषय इतिहास-दर्शन ही है। इसी प्रसंग में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है जो ठीक उनकी दृष्टि की ओर स्पष्ट रूप से इंगित करती है—वह है राजनैतिक इतिहास व सांस्कृतिक इतिहास के बीच भेद किया जाना। किसी देश के राजनैतिक इतिहास और सांस्कृतिक इतिहास का दायरा ठीक एक जैसा नहीं होता। यदि किसी देश के इतिहास को सांस्कृतिक नैरन्तर्य से परिभाषित किया जाय तो उस देश के इतिहास से उस देश में रहने वाला बहुत बड़ा जनसमुदाय बाहर भी रखना पड़ सकता है। उदाहरणत: तब भारत का इतिहास केवल उस सांस्कृतिक परम्परा के वाहक समाज का इतिहास होगा जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



परम्परा वैदिक बोध और उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना से बनी है। इस रूप में भारत का राजनैतिक इतिहास और सांस्कृतिक इतिहास भिन्न सत्त्वों का इतिहास होगा। इसी प्रसंग में शल्य जी कहते हैं कि इतिहास अर्थ-परम्परा के चरितार्थन को कहा जा सकता है (पृ. 7)। मैं समझती हूँ कि ठीक यही शल्य जी की इतिहास विषयक दृष्टि है।

इसके पश्चात् शल्य जी अपने मूल प्रतिपाद्य पर आते हैं। मानवीय इतिहास, सांस्कृतिक अर्थ में ऊर्ध्वोन्मुख नहीं है। वे इतिहास के स्वरूप विषयक तीन अवधारणाओं का उल्लेख करते हैं—चक्रिक, स्पेंग्लरीय और निरन्तर प्रगति की या रेखीय अवधारणाएँ। इनमें तीसरी अवधारणा की कसौटी आत्म-चेतना और स्वातन्त्र्य देखी गई है। वे इन तीनों अवधारणाओं के अनुसार मनुष्य का कोई इतिहास नहीं देखते। वास्तव में उन्होंने चक्रिक अवधारणा और स्पेंग्लरीय अवधारणा पर कोई विचार नहीं किया है, मानव में केवल निरन्तर विकास की अवधारणा पर ही विचार किया है। इस पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि यदि ऐतिहासिक प्रगति के निर्धारण के लिए इन दो कसौटियों को स्वीकार कर भी लिया जाये तो यह सिद्ध नहीं होता कि आज का मनुष्य ऊर्ध्वतर सोपान पर है। मानव-इतिहास की विकास शृंखला के सूत्रधार आज यूरोप और अमरीका देखे जाते हैं। इस दावे की जाँच कर वे इसे अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आत्म-चेतना का अर्थ 'व्यक्ति या समाज का अपने भावों, विचारों और कार्यों का साक्षी और आलोचक होना' लिया जा सकता है, किन्तु इस अर्थ में आज का पश्चिम अतीत के पश्चिम या पूर्व से अधिक आत्म-चेतन है, यह कहना कठिन है। शल्य जी को लगता है कि एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में आधुनिक युग में एक बड़ा विपर्यय दिखायी पड़ता है और वह यह है कि आत्मा आज देहमूलक हो गई है और दैहिक सुखों की सिद्धि को ही मानव-कल्याण का पर्यायवाची माना जा रहा है। मार्क्स ने सामाजिक विवेक का जो अर्थ प्रस्तावित किया उसकी भौतिकोन्मुख दृष्टि ही मानो द्वन्द्वात्मक विकास में उच्चतर संश्लिष्ट प्रतिज्ञा के रूप में स्वीकृत हो रही है। शल्य जी ऐसा भी मानते हैं कि स्वातन्त्र्य भी पहले के युगों की तुलना में आज अधिक हो ऐसा नहीं है। इतना कहा जा सकता है कि पहले पारम्परिकता अधिक थी जो आज नहीं है, किन्तु आज की परम्परा क्षीणता रूढ़ि से मुक्ति रूप नहीं है अपितु परम्पराहीनता है। "और जहाँ तक आत्मबोध का सम्बन्ध है पूर्व के युगों में इस बोध की कमी थी, यह कहने का कोई औचित्य नहीं है। अपितु इसके विपरीत उन युगों में आत्मा को शायद ही किसी संस्कति ने देह में अधिष्ठित देखा हो।" (पृ. 10) आत्मा विषयक ऐसी भ्रांत दृष्टि कि इसका अधिष्ठान देह है, केवल आधुनिक यूरोप की ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



सांस्कृतिक उपलब्धि है। जो प्रगति आधुनिक युग में है वह यंत्र-कौशल की है, जो मानव-प्रगति की नहीं मानव की मार्ग-भ्रष्टता की हेतु ही सिद्ध हुई है।

'मनुष्य के इतिहास' का अर्थ 'सामाजिक मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का विकास', 'मनोमय आयाम का विकास' होना चाहिए। एक दार्शनिक ने इतिहास को परिभाषित ही चेतना में जैव सोपान से इस विच्छेद के द्वारा किया है। उसके अनुसार 'इतिहास चेतना का आत्मचेतन होकर अपने को प्रकृति से अलग कर लेना है।' शल्य जी को इतिहास की यह परिभाषा युक्तियुक्त प्रतीत होती है। किन्तु इस रूप में इतिहास में उच्चतम शिखर वे भारत में औपनिषद और बौद्ध युगों में तथा शंकराचार्य और भक्त कवियों में आरूढ़ हुआ देखते हैं। ग्रीस में सुकरात और प्लेटो की चेतना में, यूरोप में प्लोटाइनस और एक्वीनास में ये शिखर देखे जा सकते हैं। आधुनिक युग की वृत्ति प्रकृतिपरक है, ऐन्द्रिय या भोगपरक है, जिसे शल्य जी की दृष्टि के अनुसार पतन या ह्रास की दिशा ही कहा जा सकता है। मानव की इतिहास-यात्रा अनिवार्यतः प्रगति की ओर नहीं है, इसके समर्थन में शल्य जी के अनुसार दो तर्क दिये जा सकते हैं— प्रथम तो यह कि समाज अपनी इतिहास-यात्रा में जिस प्रत्यय का परामर्श या व्याख्या करते हैं उसका साक्षात्कार आरम्भिक चरणों में ही होता है। संस्कृतियों का शेष इतिहास तो उस साक्षात्कार की व्याख्या की परम्परा ही होती है। जो समाज इस प्रकार के साक्षात्कार से वंचित होते हैं वे अपनी मूल अविकसित अवस्था में ही पड़े रहते हैं। असंख्य आदिम समाज इसके उदाहरण हैं। दूसरा यह कि सभी संस्कृतियाँ अपने आरम्भिक साक्षात्कारात्मक चरणों में प्राकृतिक लोक को देवलोक की सन्निधि में और दिव्य नियम के शासन में देखती रही हैं और यह दृष्टि उस काल में उनके जीवन में सहज अन्तर्व्याप्त थी। यह दृष्टि अधिक समृद्ध जीवन को अधिक सुदृढ़ आधार देने वाली है, यह देखना कठिन नहीं है। वैदिक दृष्टि और उस पर किये गये चिंतन ने औपनिषद, बौद्ध, जैन और पौराणिक दृष्टियों को प्रतिफलित किया है और सब सम्भव पुरुषार्थों को उनकी पूर्ण गहनता के साथ आधार दिया है। अपनी-अपनी तरह से ग्रीक, चीनी, मिस्री और रोमी संस्कृतियों के लिए भी यही कहा जा सकता है।

आधुनिक युग की एक वैचित्र्यपूर्ण स्थिति की ओर संकेत करते हुए शल्य जी कहते हैं कि नैतिक विवेक के लिए कोई आध्यात्मिक आधार नहीं होने पर भी मानव-कल्याण के लिए जितनी सामूहिक अभिज्ञता और प्रयत्न आज के युग में है उतना पहले कम दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य की सामाजिक रूप में चेतना पिछले युगों की तुलना में अधिक प्रखर है, लेकिन फिर भी इसे मानव-चेतना की प्रकाश की दिशा में सामान्य प्रगति का द्योतक नहीं कहा जा सकता। सारांशतः, मानव-इतिहास सांस्कृतिक रूप से निरन्तर उत्थान-पतन की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



आवर्तन-प्रतिवर्तन की शृंखला-रूप दिखाई देता है। मनुष्य के समग्र इतिहास पर दृष्टि डालें तो मनुष्य की इतिहास-यात्रा विभिन्न सभ्यताओं के जन्म, उत्थान और निरर्थकता में विलय की कथाओं के संकलन जैसी लगती है। शल्य जी लिखते हैं कि ब्रह्माण्डीय स्तर पर तो एक ऊर्ध्व गति-क्रम दिखाई देता है—भौतिक से जैव और जैव से मानव की मनोमय चेतना के रूप में। लेकिन अब मनुष्य इस मनोमय सोपान को लांघकर अतिमानसिक सोपान की ओर अग्रसर है, ऐसा नहीं लगता। यंत्रारूढ़ मानव-सभ्यता पशु से तो अलग हो गई है किन्तु यह पार्थक्य विपरीत दिशा में अग्रसर है। शल्य जी के शब्दों में "वह कहीं अधिक अकल्पनीय रूप से उग्रतर पशुता का प्रापक है। आगे यही यंत्र-चेतना अपनी निरर्थकता देखकर ऊर्ध्वतर आत्म-चेतना के आविर्भाव की हेतु बन जाये तो और बात है, किन्तु यह भी सम्भव है कि यह उग्रतर पशु पृथ्वी पर सर्वनाश का हेतु बने।" (पृ. 22)

मुझे लगता है कि यदि शल्य जी यही स्थापित करना चाहते हैं कि मानवीय इतिहास ऊर्ध्वोन्मुख नहीं है तो उचित होता यदि वे पाश्चात्य विचारकों द्वारा स्वीकृत प्रगति के अर्थ को चुनौती देते। वैसे प्रगति के एक या दो मानदण्ड हो भी नहीं सकते, व्यक्ति के संदर्भ में भी नहीं, फिर समाज तो उससे कहीं अधिक जटिल संरचना होता है। प्रगति का अर्थ स्वातन्त्र्य-बोध है तो समानता का भाव क्यों नहीं? सर्वजन के लिए शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान का प्रसार क्यों नहीं। विज्ञान या तकनीक ने जिस सीमा तक मानव की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने में मदद की है, वह क्यों नहीं? कला के विविध रूपों में विकास क्यों नहीं? शल्य जी ने प्रगति के जिस अर्थ को—चाहे विचारार्थ ही—स्वीकार किया है, उस अर्थ में भी कहना होगा कि मानव ने प्रगति की है। स्वातन्त्र्य-बोध पहले से कहीं अधिक प्रखर है, इसमें संदेह की कोई बात नहीं लगती। आधुनिक युग की सारी राजनैतिक, कानूनी, सामाजिक व्यवस्थाओं में यह लक्ष्य संरचनात्मक रूप से निहित देखा जा सकता है। हमारी आज की सामाजिक न्याय की अवधारणा इसी दिशा की ओर उन्मुख है। उपयुक्त सामाजिक व्यवस्थाओं के रहते मनुष्य किस हद तक अपने को स्वतन्त्र रख पाता है या अपनी स्वतन्त्रता साध पाता है, दूसरी बात है। और जहाँ तक आत्मचेतन होने का प्रश्न है, उसका अर्थ जो स्वयं शल्य जी ने लिया है उस अर्थ में भी आज का मनुष्य अधिक आत्मचेतन है, यही कहना होगा। आत्मा-विषयक उसकी दृष्टि भ्रान्त है, यह एक भिन्न बात है। आत्मा-विषयक आज की दृष्टि विपर्यस्त हो सकती है किन्तु मनुष्य अपने परिवेश, अपनी परम्पराओं, अपनी आस्थाओं व विचारों के प्रति अधिक सजग है, ऐसा लगता है। प्रसंगवश ही कहना चाहती हूँ कि प्राचीन काल के उत्कर्ष की बात करते हुए शल्य जी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



महापुरुषों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं जबकि आज के युग के अपकर्ष की बात करते हुए वे साधारण जनमानस की चेतना को देखते हैं। मनीषी, विचारक, समाज-सुधारक, कलाकार आज भी हैं। आधुनिक युग को जनमानस से और पूर्व युगों का महापुरुषों से आँकना कहाँ तक समीचीन है? मुझे ऐसा भी लगता है कि आधुनिक पाश्चात्य चिंतकों को आज का युग जो प्रगति की ओर अग्रसर लग रहा है वह सम्भवत: इसलिए है कि वे आधुनिक युग में मध्ययुग के अंधकार को हटता हुआ देख रहे हैं। शल्य जी को आज के युग में सांस्कृतिक पतन दिखाई दे रहा है वह इसलिए कि वे इस युग की तुलना भारत के वैदिक काल से कर रहे हैं, जो भारतीय संस्कृति की नींव रहा है और कुछ अंशों में जिसकी धारा आज भी विद्यमान है। जहाँ तक पश्चिमी जगत् का प्रश्न है, उनके इतिहासकारों को प्रगति दिखाई दे रही है क्योंकि वे मध्ययुग की अनेकरूप अंधता से मुक्ति रूप वैज्ञानिक दृष्टि का प्रकाश देख रहे हैं, और सामाजिक जीवन में जनसामान्य के उत्कर्ष की बात सोच पा रहे हैं, चाहे वह उत्कर्ष 'दिव्यता' की ओर नहीं है। वैसे शल्य जी अनचाहे ही संस्कृतियों को पतनोन्मुख ही देख रहे हैं क्योंकि वे मानते हैं कि सत्य का साक्षात्कार प्रत्येक संस्कृति में उसके आरम्भिक चरणों में ही होता है। शेष चरणों में तो उसी दृष्टि का अनुवाद, पुनरावृत्ति या व्याख्या ही होती है। उनका यह विचार उनके इस निष्कर्ष से असंगत जान पड़ता है कि मनुष्य की इतिहास-यात्रा सांस्कृतिक रूप से निरन्तर उत्थान-पतन के आवर्तन-प्रतिवर्तन की शृंखला दिखाई देती है। मैंने जो प्रश्न सामने रखे हैं वे उनके विचार-तन्त्र के भीतर से ही उठते हैं, हालांकि कुछ प्रश्न ऐसे भी हैं जो उनके विचार-तन्त्र के बाहर से भी उठाये जा सकते हैं। किन्तु यहाँ वे प्रश्न नहीं उठा कर अपनी बात यहीं समाप्त करती हूँ।

**के.एल. शर्मा**

शल्य जी ने अपने लेख 'इतिहास-दर्शन' में इतिहास के स्वरूप पर व्यापक रूप से चर्चा की है और अनेक महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दुओं को उठाया है और उन पर प्रकाश डाला है। इन सभी विषयों पर चर्चा करना इस टिप्पणी का न उद्देश्य है और न यह सम्भव ही है। इस टिप्पणी में उनके लेख के संदर्भ में कुछ बातों पर चर्चा की गई है जिनसे लेखक की सहमति हो यह आवश्यक नहीं है। शल्य जी अपने इस लेख को 'इतिहास' की परिभाषा से प्रारम्भ करते हैं और फिर उस परिभाषा से असमति व्यक्त करते हुए इस बात पर ज़ोर देते हैं कि इतिहासकार (सक्षात्कारात्मक इतिहासकार) "विशिष्ट घटनाओं को सामान्य धर्मों और तत्त्वों के संकेतों के रूप में ग्रहण करते हुए किसी समाज की आत्मा का साक्षात्कार करता है।" उनके इस कथन को इतिहास का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



लक्षण कहा जा सकता है। शल्य जी की दृष्टि में विवरणात्मक इतिहास (साक्षात्कारात्मक और विवरणात्मक इतिहास शल्य जी द्वारा प्रयुक्त इतिहास के दो प्रकार हैं जो भिन्न भी हैं और प्रमुखता और गौणता सम्बन्ध से सम्बन्धित भी।) साक्षात्कारात्मक इतिहास की तुलना में गौण होता है जैसे कि 'आत्मा की दृष्टि से देह गौण होती है।' देहधारी व्यक्ति देह की बात न करके सीधे आत्मा की बात करे यह बात कुछ लोगों की समझ से परे हो सकती है। यह सही है कि कुछ विचारकों ने देह से अपनी बात प्रारम्भ की और आत्मा तक पहुँच कर उसे नकार दिया। इन दृष्टियों के विरोध में अनेक तर्क दिये भी गये हैं। देह को सर्वथा गौण स्थान देना उसकी महत्ता को अस्वीकार करना है। विषयान्तर से बचने के लिए मैं अपनी बात पुन: इतिहास के स्वरूप से प्रारम्भ करता हूँ।

इतिहास निरन्तरता की एक तलाश है और उसमें एक 'टीलॉस' (उद्देश्यमूलकता) भी होता है। लेकिन निरन्तरता की तलाश का अर्थ क्या है और उसकी दिशा क्या है? ये प्रश्न सदैव बने रहते हैं। दार्शनिक (इतिहास-दर्शन) का कार्य निरन्तरता की तलाश की दिशा और अर्थ का विश्लेषण करना है। विश्लेषण की यह प्रक्रिया निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इतिहासकार के सामने एक समस्या यह होती है कि इतिहास 'जो घट चुका है', उसका वर्णन करता है लेकिन उस वर्णन का कोई अर्थ नहीं है अगर उसका भविष्य के साथ कोई सम्बन्ध न हो या भविष्य के लिए कोई अर्थ न हो। लेकिन व्यक्ति को भविष्य का ज्ञान सम्भव नहीं होता। यही वह बात है जिस पर दार्शनिक प्रश्नचिह्न लगाता रहता है।

शल्य जी ने इतिहास के स्वरूप को ध्यान में रखकर ही 'इतिहास-दर्शन' की चर्चा की है। इतिहास के कई प्रकार होते हैं जो उसकी विषय-वस्तु से निर्धारित होते हैं, जैसे कि आर्थिक इतिहास, विज्ञान का इतिहास, दर्शन का इतिहास आदि आदि। शल्य जी ने अपने लेख में इन प्रकारों की चर्चा नहीं की है। वे सम्भवत: इन्हें विवरणात्मक इतिहास की कोटि में रखेंगे और साक्षात्कारात्मक इतिहास की तुलना में गौण स्थान देंगे। समाज का इतिहास उनकी दृष्टि में प्रमुख है क्योंकि उनकी दृष्टि में इसी संदर्भ में आत्म-साक्षात्कार सम्भव है।

ध्यान देने की बात यह है कि इतिहास चाहे संस्कृति का हो या समाज का या अन्य प्रकार का (विवरणात्मक), प्रत्येक इतिहासकार विषयनिष्ठता का दावा करता है। इसलिए दार्शनिक का कार्य इतिहासकार द्वारा किये गये वस्तुनिष्ठता के दावे का परीक्षण करना होता है। इतिहासकार के वस्तुनिष्ठता के दावे की अगर हम परीक्षा करें तो यह दावा सीमित ही हो सकता है क्योंकि तथ्यों की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



समग्रता तक पहुँचना दुष्कर कार्य होता है। इसके अतिरिक्त तथ्यों के चुनाव और परीक्षण में इतिहासकार की पृष्ठभूमि/दृष्टिकोण की भी महती भूमिका होती है। इसलिए इतिहासकार को इतिहास से बाहर रखकर देखना, उसे परिभाषित करना उपयुक्त नहीं है। साक्षात्कारात्मक इतिहास के लिए वस्तुनिष्ठता की कसौटी को शल्य जी, ऐसा लगता है, स्वीकार नहीं करते। ऐसी स्थिति में कहानी और इतिहास में अन्तर करना दुष्कर कार्य होगा। शल्य जी का ध्यान इस बिन्दु पर गया तो है परन्तु इस विषय पर विशद चर्चा अपेक्षित है।

प्रभावी ऐतिहासिक उपागम (एप्रोच) की यह माँग है कि परम्परा और इतिहास के क्षेत्रों को उनके अपने-अपने अर्थों के संदर्भ में स्पष्ट रूप से रेखांकित किया जाय। कहने का अर्थ यह है कि 'ऐतिहासिक चेतना' को तात्कालिक रूप से जो स्पष्ट है और जिसके द्वारा वह किसी परम्परा को देखना चाहती है उसके बारे में पूरी-पूरी जानकारी हो। शल्य जी की बात हेगेल के नज़दीक अधिक लगती है। हेगेल भी समग्र ज्ञान या पूर्ण ज्ञान की बात करता है। हेगेल के निरपेक्ष ज्ञान (एब्सोल्यूट नॉलेज) में इतिहास अपने में पूरी तरह से पारदर्शी है और इस दृष्टि से यह एक 'प्रत्यय' का स्तर प्राप्त कर लेता है। यह एक ऐसा प्रत्यय/विचार है जहाँ से आगे जाने के लिए कोई वैकल्पिक मार्ग नहीं है। आप इस विचार-तंत्र में ऊपर से नीचे और दाएँ से बाएँ गति करने के लिए तो स्वतंत्र हैं लेकिन उसमें नवीन प्रश्नों के उद्घाटन के लिए कोई अवसर नहीं होता। समग्रात्मक इतिहास की यह विडम्बना है। प्रत्येक इतिहास अनुद्घाटित प्रश्न छोड़ जाता है जिनका भावी इतिहासकार समाधान करने का प्रयास करता है। 'प्रभावी इतिहास-चेतना' हमारे बोध का एक अंश होती है जो हमारे द्वारा सही प्रश्न उठाने या प्रश्न का चुनाव करने में पहले से ही सक्रिय हो जाती है। प्रभावी ऐतिहासिक चेतना प्राथमिक रूप से व्याख्यात्मक चेतना होती है। व्याख्यात्मक चेतना (हर्मेन्यूटिकल कांश्यसनेस) की कठिनाई यह है कि हम जहाँ 'अवस्थित' होते हैं वहीं हो सकते हैं, उसके बाहर नहीं। इसलिए हम किसी बात पर पूरी तरह से प्रकाश डालने में असमर्थ होते हैं। ऐसी स्थिति में वस्तुनिष्ठता की बात करना भी सम्भव नहीं होता। यही बात किसी परम्परा में रहकर उस परम्परा के बारे में किये गये शोध या समझने के प्रयास के बारे में कही जा सकती है। यही कारण है कि परम्परा का पूर्ण प्रभावी ऐतिहासिक मनन कभी भी सम्भव नहीं होता। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनन-प्रक्रिया में कुछ कमी होती है। यह कमी हमारे स्वयं के एक ऐतिहासिक सत्ता होने के कारण होती है। सत्तया ही ऐतिहासक होने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



का अर्थ है कि व्यक्ति का अपने बारे में ज्ञान कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए अपने बारे में पूर्ण ज्ञान/पूर्ण आत्म ज्ञान स्वरूपत: ही असम्भव होता है।

आत्मज्ञान, जो ऐतिहासिक रूप से प्रदत्त है, विषयिपरक होता है। विषयिपरक अभिवृत्ति और अर्थ किसी परम्परा की समझ को किसी विशिष्ट ऐतिहासक गुणवत्ता के रूप में सीमित और नियत करते हैं। अवस्थिति (सिचुएटिडनेस) का अर्थ किसी दृष्टिकोण या ज्ञान के क्षितिज या किसी विशिष्ट बिन्दु से अवलोकन करना या देखना है। इसलिए हम ज्ञान-क्षितिज की सीमितता, उसके विस्तार, नये-नये क्षितिज खोजना आदि की बात करते हैं। हाँ, यह सही है कि 'क्षितिज' न होने से हम विषयों/वस्तुओं को देख नहीं सकते। लेकिन दूसरी ओर यह बात भी सही है कि विशिष्ट क्षितिज के होने पर हमें हमारी समीपस्थ वस्तुएँ अधिक मूल्यवान् प्रतीत होती हैं। इसलिए क्षितिज होने का अर्थ यह नहीं है कि जो हमारे समीप है वहीं तक हमारी दृष्टि सीमित हो जाये। क्षितिज का अर्थ है जो कुछ भी उसकी सीमा में है उन सभी की सापेक्षिक महत्ता को स्वीकार करना। हम क्षितिज में गति करते हैं और क्षितिज हमारे साथ गति करता है। क्षितिज केवल उसी व्यक्ति के लिए बदलता है जो स्वयं गति करता है। इसलिए भूत काल का क्षितिज, जो परम्परा के रूप में रहता है, सदैव गतिशील रहता है अगर हम उसे हमारे समकालीन संदर्भ में देखें, उस पर विचार करें। ऐतिहासिक चेतना हमारे आस-पास के क्षितिज को गति प्रदान नहीं करती बल्कि ऐतिहासिक चेतना में गति अपने आपको जानती है, पहचानती है। इस दृष्टि से जब किसी परम्परा से हमारा सामना होता है और उससे जो प्रश्न उठते हैं उन्हें सही संदर्भ में समझना और उत्तर देना इतिहासकार का कार्य है।

**नन्दकिशोर शर्मा**

शल्य जी कहते हैं कि 'समाज-मानव' के क्रिया-कलापों के अतीत के विवरण उसके वर्तमान विवरण जैसे नहीं होते। इसका कारण वे कहते हैं 'यह है कि वर्तमान विवरण जबकि तात्कालिक और तत्पर्यन्त ही मुख्यत: होते हैं, ऐतिहासिक विवरण जातीय जीवन के अंग के रूप में और उस जीवन को समझने को ही लक्षित करते हैं।'

शल्य जी का यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। किसी भी घटना अथवा घटनाक्रम का विवरण (चाहे वह किसी भी अर्थ में लिया जाये) केवल इस कारण भिन्न नहीं हो सकता कि एक विवरण अतीत का है तथा दूसरा विवरण वर्तमान का। शल्य जी ने इतिहास के विवरणात्मक इतिहास तथा साक्षात्कारात्मक इतिहास दो भेद किये हैं वह ठीक है किन्तु ये दोनों ही दृष्टियाँ अतीत एवं वर्तमान घटनाओं पर समान रूप से लागू होती हैं। वर्तमान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



घटना या घटनाक्रम का विवरण भी ठीक उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार अतीत की घटनाओं का।

दूसरा प्रश्न अधिक महत्त्व का है। शल्य जी ने इतिहास की परिभाषाएँ कुछ इस प्रकार स्वीकार की हैं—(1) इतिहास किसी अर्थ-परम्परा तथा उसके चरितार्थन को ही कहा जा सकता है, (2) मनुष्य के इतिहास का अर्थ सामाजिक मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का विकास लेना ही उचित प्रतीत होता है, 'ऐतिहासिक प्रगति' का अर्थ मनुष्य की आत्मचेतना में विकास है आदि आदि। किन्तु वे आत्मचेतना में निरन्तर विकास के अर्थ में मानव का कोई इतिहास नहीं देखते, क्योंकि उनके अनुसार 'आज का मनुष्य पिछले युगों के मनुष्य की तुलना में अधिक आत्मचेतन है यह कहने का कोई औचित्य नहीं है।' किन्तु ब्रह्माण्ड स्तर पर वे चेतना का विकास भौतिक से जैविक और जैविक से मानसिक स्तर-क्रम के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु इसका अर्थ हो जाता है कि हम विश्व-सृष्टि के आधार में किसी चित्तत्त्व को स्वीकार करें जो आरम्भ में भौतिक रूप में होता है और तब क्रमश: जैविक और मानसिक रूप में विकसित होता है। किन्तु उनके इस प्रतिपादन के लिए कोई प्रमाण दिखायी नहीं देता। किन्तु इसमें जो और अधिक आश्चर्य की बात लगती है वह यह कि वे मनुष्य के स्तर पर चेतना में कोई विकास ही नहीं देखते। वे ब्रह्माण्डीय स्तर पर जैविक से मानसिक (मानुषिक) में विकास तो देखते हैं किन्तु मानुषिक स्तर पर कोई अग्रगति नहीं देखते।

**दयाकृष्ण**

1. ऐतिहासिक काल-क्रम में क्या हम प्रगति के प्रत्यय की सार्थक रूप से बात कर सकते हैं?
2. इतिहास को यदि हम विषय के रूप में देखें तो हमें जो कुछ दिखायी देता है, हम उसकी कुछ तस्वीर बना सकते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इतिहास समाप्त नहीं हो गया है।
3. चेतना के विकास का क्या अर्थ हो सकता है? चेतना और आत्मचेतना में क्या सम्बन्ध है? आत्मचेतना स्वयं हमें कुछ बना रही है उसका ज्ञान किस प्रकार का ज्ञान है?

**यशदेव शल्य**

सरला जी ने मेरा लेख सारांश रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके प्रतिपादन को लेकर कुछ आपत्तियाँ उठायी हैं। यहाँ मैं उनके निवारण का प्रयत्न करूँगा।

प्रथम आपत्ति यह है कि मैंने इतिहास-दर्शन और समग्रात्मक इतिहास को जिस प्रकार परिभाषित किया है उसमें इन दो के बीच विभाजक रेखा स्पष्ट

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



नहीं है। मेरे निरूपण के अनुसार समग्रात्मक इतिहास भी इतिहास दर्शन जैसा ही प्रतीत होता है।

यह आपत्ति ठीक नहीं कही जा सकती। मैंने इतिहास-दर्शन को तथा इतिहास, विवरणात्मक इतिहास और समग्रात्मक इतिहास को स्पष्टत: परिभाषित और विवेचित किया है। 'इतिहास' को परिभाषित करने के बाद उसके दो भेद किये हैं—विवरणात्मक और समग्रात्मक और इस परिभाषाकरण और विवेचन को दर्शन कहा है। यह भी कहा है कि किसी संस्कृति की या मानव-संस्कृति की, या समग्र ब्रह्माण्ड की भी काल-यात्रा का विवरण समग्रात्मक इतिहास है और 'संस्कृति के स्वरूप, ब्रह्माण्ड के स्वरूप पर या संस्कृति या ब्रह्माण्ड को काल-यात्रा में देखने के औचित्य पर विचार इतिहास-दर्शन है। स्पेंग्लर और टॉयन्बी ने इतिहास के स्वरूप पर भी विचार किया है और उस स्वरूप-विचार के अनुसार इतिहास-लेखन भी किया है। वह इतिहास-स्वरूप-विचार उनका इतिहास-दर्शन है और विभिन्न संस्कृतियों-सभ्यताओं का स्वरूप-निरूपण, उनके आरम्भ और काल-क्रम में उनके विकास या ह्रास का विवरण उन संस्कृतियों-सभ्यताओं का समग्रात्मक दृष्टि से इतिहास-लेखन है। यह बात दूसरी है कि इस इतिहास-लेखन या इतिहास-ज्ञान में इतिहासकार की दृष्टि दार्शनिक की होती है। जैसे कोई 'मानव-जीवन क्या है' इस पर विचार करे और अपने जीवन या दूसरे के जीवन पर विचार करते हुए इस दार्शनिक दृष्टि से उपरंजित होकर विचार करे।

सरला जी ने दूसरी आपत्ति आत्म-चेतना को लेकर उठायी है जिसकी वृद्धि या विकास को मानदण्ड मानते हुए कुछ यूरोपीय दार्शनिकों ने आज के वैज्ञानिक युग को पिछले युगों से उन्नततर कहा है और मैंने दिशा-भ्रष्ट कहा है। सरला जी का कहना है कि "आत्मा-विषयक आज की दृष्टि विपर्यस्त हो सकती है किन्तु मनुष्य अपने परिवेश, अपनी परम्पराओं, अपनी आस्थाओं व विचारों के प्रति अधिक सजग है, ऐसा लगता है।" यहीं आगे सरला जी यह भी कहती हैं कि "प्राचीनकाल के उत्कर्ष की बात करते हुए शल्य जी महापुरुषों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं जबकि आज के युग के अपकर्ष की बात करते हुए वे साधारणजन की चेतना को देखते हैं।" यह ठीक नहीं है। आज के युग में जनसाधारण में अधिक जागरूकता है, इस बात को मैंने स्वीकार किया है। किन्तु इस जागरूकता का स्वरूप क्या है, यह समझना आवश्यक है। नये यंत्र का आविष्कार समाज में एक नयी गति लाता है, यह कार्ल मार्क्स ने ठीक ही कहा था, और यूरोप में औद्योगिक क्रांति के आरम्भ के बाद से इस विकास की गति इतनी तीव्र हुई है कि आज जितना विकास एक सप्ताह में हो रहा है उतना पहले हज़ार वर्षों में भी नहीं होता था। इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



कारण समाज में गति की रफ्तार अकल्पनीय है। इसी कारण पहले समाज में गति-मंथरता थी। इस अवस्था-भेद को यदि त्रिगुण की पदावली में कहें तो कह सकते हैं कि वह अवस्था प्रधानतया सात्त्विकता-तामसिकता की थी और वर्तमान अवस्था राजसिकता-तामसिकता की है। उस अवस्था में चेतना या तो गतिहीनता में जड़ थी, (अर्थात् भौतिक जड़ता के साथ मानसिक जड़ता भी थी) अथवा गतिहीनता में आत्मोन्मुख जागृत (अर्थात् भौतिक गतिहीनता के साथ मानसिक प्रबुद्धता थी।) इसके विपरीत आज चेतना या तो गतिशीलता में जड़ है अथवा गतिशीलता में आत्म-पराङ्मुख (अर्थात् या तो वह भौतिक गतिशीलता के साथ मानसिक गतिहीनता की स्थिति में है अथवा भौतिक गतिशीलता के साथ पराङ्मुख मानसिक गतिशीलता की स्थिति में।) गतिहीनता में जड़ता के निदर्श कोल्हू के बैल, जुगाली करती गाय-भैंस और रूढ़िग्रस्त जन-साधारण हो सकते हैं और गतिशीलता में जड़ता के उदाहरण आधुनिक जन-साधारण, यंत्र-यान चालक या कम्पनी-मैनेजर आदि हो सकते हैं। इसी प्रकार गतिहीनता में आत्मोन्मुखता के निदर्श बुद्ध, महावीर या कबीर और रामकृष्ण परमहंस आदि हो सकते हैं और गतिशीलता में पराङ्मुखता के निदर्श आज के प्रत्यक्षवादी अनुभववादी विचारक, पत्रकार और राजनेता आदि हो सकते हैं। इस प्रकार जड़ता पहले भी अपार थी और आज भी अपार है, भेद उसमें केवल सात्त्विकता और राजसिकता का है जो चेतना की युग-दशाओं को सूचित करता है। सरला जी ने आपत्ति उठायी है कि मैंने पिछले युगों के उदाहरण उन युगों के महापुरुषों को बनाया है जबकि आधुनिक युग का उदाहरण जनसामान्य को। नहीं, यह बात नहीं है। पिछले युगों के उदाहरण ऋषि, बुद्ध और कबीर हैं तो आज के उदाहरण ह्यूम, फ्रायड, पॉवलॉव, मार्क्स, बर्ट्रंड रसल और ज्याँ पॉल सार्त्र हो सकते हैं। आप कह सकते हैं कि आईंस्टाइन क्यों नहीं, जिसमें भौतिक विज्ञान आध्यात्मिक बोध का हेतु हैं, काँट क्यों नहीं, जो विज्ञान का पुन: प्रतिष्ठापक होने और धर्म-भाव को तार्किक आधार देने को उदग्र होने के साथ-साथ आध्यात्मिक बोध से भी ओत-प्रोत है? इसका उत्तर होगा कि वे अपनी इन वृत्तियों में युग-दिशा और युग-बोध के प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते, और इतिहास युग-बोध की बात ही करता है। इतिहास-गति और ऐतिहासिक प्रगति के उस सिद्धान्त के प्रवक्ता कोंत ने युग-प्रवृत्तियों की बात ही की थी, और उनके प्रतिनिधि बुद्ध और पॉवलॉव ही हो सकते हैं चारवाक और आईंस्टीन नहीं।

एक और बात जो सरला जी ने गोष्ठी में कही थी और जिसे डॉ. के.एल. शर्मा ने ठोस उदाहरण द्वारा पुष्ट किया था वह आधुनिक युग में मानव-समानता और स्वातंत्र्य-बोध के विकास को ले कर थी जिस विकास को मैंने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



अपने लेख में अस्वीकार किया है। सरला जी का कहना था कि "आज इन अवधारणाओं और आदर्शों को संस्थात्मक रूप दे दिया गया है, जबकि पहले ये संस्थात्मक स्तर पर अस्वीकृत थे।" किन्तु यह बात भी जितनी सरल-सीधी दिखायी पड़ती है उतनी है नहीं। सर्वप्रथम, यह तथ्यत: ही सही नहीं है कि सब व्यक्ति समान हैं। तथ्य इसके विपरीत है। जहाँ तक न्याय, धर्म-नीति, राजनीति आदि में इसे सिद्धान्त रूप में मानकर चलने की बात है, भारत में भी, वैदिकों को छोड़ कर, वर्ण-जाति आदि के आधार पर ऊँच-नीच मानने का विचार कोई स्वीकृत विचार नहीं था। जहाँ तक वैदिकों का प्रश्न है, उनमें भी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' तथा 'शुनि चैव श्वपाके च पंडिता समदर्शिन:' सिद्धान्त रूप में स्वीकृत देखा जा सकता है। व्यवहार में इस दृष्टि के अपवाद के लिए दूसरे सिद्धान्त हैं, जो युक्तियुक्त हैं या नहीं यह निर्णय बहुत सी बातों पर निर्भर करता है। व्यवहार में इसके अपवाद आज भी कम नहीं हैं—नाज़ीवाद, श्वेत-अश्वेत की उत्कृष्टता-अपकृष्टता ये आज के ही व्यवहार हैं और ये उससे कहीं अधिक क्रूरतापूर्ण रहे हैं जितनी क्रूरता सवर्ण-असवर्ण भेद के आधार पर वैदिकों में देखने को मिलती है। वास्तव में इस जाति-वर्ण भेद में भी क्रूरता या अत्याचार उस प्रकार कोई स्वीकृत सिद्धान्त नहीं था, जिस प्रकार सब को एक ईश्वर की संतान मानने वाले ईसाइयों और मुसलमानों में धर्मी-विधर्मी के भेद को ले कर और आधुनिकों में श्वेत-अश्वेत, श्रमिक-पूँजीपति आदि को लेकर है। मनुष्य मात्र को समान मानने वाले यूरोप ने इस सिद्धान्त के 'साक्षात्कार' के बाद नाज़ीवाद, श्वेत-अश्वेतवाद, ईसाई धर्मान्तरणवाद आदि के रूप में उत्पीड़न और संहार के जो कृत्य किये हैं उनकी तुलना में शायद हज़ारों वर्ष के सब संहार संयुक्त रूप से भी नगण्य ही सिद्ध होंगे। शुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से भी, सब मनुष्यों की समानता के सिद्धान्त ने मनुष्यों की वास्तविक असमानता के कारण एक ओर पूँजीवादी अन्याय-व्यवस्था को जन्म दिया है और दूसरी ओर मार्क्सवादी अन्याय-व्यवस्था को। जैसा कि हमने अन्यत्र[1] दिखाया है, पूँजीवादी व्यवस्था व्यक्ति-समानता के विचार पर आधारित 'प्रजा के द्वारा राज्य' पर प्रतिष्ठित है और मार्क्सवादी व्यवस्था 'प्रजा के लिए' के आधार पर। प्रजातंत्रवाद के ये दो सूत्र कभी इस अवधारणा पर प्रतिष्ठित किसी एक व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिफलित नहीं किये जा सकते। इन व्यवस्थाओं में निहित अनिवार्य अन्याय का प्रतिकार केवल मनुष्य में नैतिक बोध के सर्वसाधारण होने से ही हो सकता है। इसके लिए यदि उपयुक्त राज्य-व्यवस्था

---

1. द्रष्टव्य—यशदेव शल्य — विषय और आत्म में संकलित 'प्रजातंत्रवाद : पुनरालोचन की आवश्यकता' लेख तथा समाज : दार्शनिक परिशीलन में 'न्याय' अध्याय

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



की अपेक्षा भी हो तो वह केवल गाँधीवाद जैसी किसी व्यवस्था में ही पूरी हो सकती है, जो व्यवस्था उद्योगवाद-विज्ञानवाद के परित्याग से ही सम्भव हो सकती है।[1]

अपनी टिप्पणी के अन्त में सरला जी ने कहा है कि मैं "संस्कृतियों को पतनोन्मुख ही देखता हूँ, क्योंकि मेरे अनुसार सत्य का साक्षात्कार प्रत्येक संस्कृति अपने आरम्भिक चरणों में ही करती है।"

नहीं, मैंने ठीक ऐसा नहीं कहा है। मैंने कहा है कि समाजों में आरोह-अवरोह के क्रम चलते हैं। पहला उन्मेष किसी सत्य के साक्षात्कार के साथ होता है और अनन्तर साक्षात्कार की व्याख्या-विश्लेषण का प्रयत्न होता है। यहाँ मैं जोड़ना चाहूँगा कि उस दृष्टि के अनुसार जीवन को साधने के प्रयत्न का आरम्भ भी होता है। इन दो पक्षों को क्रमशः 'दृष्टि की व्याख्या' और 'प्रयोग' के पक्ष कह सकते हैं। यह एक विचित्र बात है कि इन दोनों पक्षों में मूल दृष्टि के साथ भौतिक विज्ञान के थर्मोडिनेमिक्स के द्वितीय नियम की सी बात होती है। दार्शनिक जबकि उस मूल दृष्टि के आशय की व्याख्या करते हैं और जन-सामान्य उसे जीवन में साधने का प्रयत्न करते हैं, वह दृष्टि क्रमशः अपनी मूल प्रेरणा खोकर तर्क-वितर्क में एक ओर और रूढ़ बाह्याचार में दूसरी ओर बिखर जाती है। तब उससे उत्पन्न निर्जीवता और बिखराव में से कभी फिर किसी प्रेरणा-पुरुष का जन्म होता है जो उस पृष्ठभूमि पर से नये सत्य का साक्षात्कार करता है। उसके अनन्तर फिर उसी प्रकार का क्रम आरम्भ होता है। इसकी टॉयन्बी के 'राउट-रैल्ली' के नियम से कुछ अनुरूपता देखी जा सकती है। वास्तव में कोई समाज मूल द्रष्टा-साक्षात्कारी के अनुसरण में कहाँ तक और कितने काल तक आगे बढ़ता है और कब क्षय का काल आरम्भ होता है, यह उस दृष्टि की अर्थगर्भता और समीचनता पर और समाज की आन्तरिक जीवनी शक्ति और बाह्य परिस्थितियों दोनों पर निर्भर करता है। इसके उदाहरण रूप में वैदिक दृष्टि और उसके उपनिषदों, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में अनुसरण को एक ओर और याज्ञिक कर्मकाण्ड के प्रसार को दूसरी ओर देखा जा सकता है। इसी प्रकार इस वैदिक दृष्टि के क्षय के अनन्तर बुद्ध और महावीर के आविर्भाव और उनके दर्शन और धर्म में अनुसरणों को देखा जा सकता है। इनसे भिन्न इधर स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज को देखा जा सकता है। स्वामी दयानन्द की दृष्टि एक समाज-सुधार आन्दोलन मात्र की प्रेरक बन कर रह गई, क्योंकि उसमें उससे अधिक सम्भावना ही

---

1. द्रष्टव्य—उपर्युक्त तथा हामरा लेख 'भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम और मूल्य विमर्श', इलाहाबाद संग्रहालय से प्रकाशित इसी नाम की पुस्तक में।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



नहीं थी। इस आन्दोलन ने अपना उद्देश्य सिद्ध किया किन्तु वह विचार आगे व्यापकतर विचार में समाहित हो गया और आर्यसमाज के अनुयायी अपनी मूल लीक को ही पीटते रह गये। दूसरा उदाहरण महात्मा गाँधी का हो सकता है, जिन्होंने इतिहास की वर्तमान दिशा की भयावह भ्रष्टता देखी। किन्तु वह साक्षात्कार उस इतिहास-दिशा को ही बदलने को लक्षित करता था जिसे बदलना असम्भव सिद्ध हुआ।

**डॉ. के.एल. शर्मा** की टिप्पणी एक सीमा तक मेरे लेख से प्रेरित इतिहास विषयक स्वतंत्र विचार है और उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है, जिनका मैंने लेख में या तो केवल उल्लेख मात्र किया है या उल्लेख भी नहीं किया है। जैसे ऐतिहासिक ज्ञान की वस्तुनिष्ठता का प्रश्न, समग्रात्मक इतिहास-दृष्टि की सीमाएँ, ऐतिहासिक सन्दर्भ में व्याख्यात्मक चेतना की कठिनाई आदि की ओर संकेत किया है। इन प्रश्नों पर मैं यहाँ कुछ नहीं कहूँगा, के.एल. जी ने ये प्रश्न मेरे उत्तर की अपेक्षा से उठाये भी नहीं हैं। यहाँ मैं केवल ऐतिहासिक ज्ञान की वस्तुनिष्ठता के सम्बन्ध में थोड़ा स्पष्टीकरण करना चाहूँगा। मैं समझता हूँ कि अधिकांश में जब वस्तुनिष्ठता की बात की जाती है तब हम इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं होते कि वह वस्तु क्या है जिससे निष्ठता की बात की जा रही है। वास्तव में विवरणात्मक इतिहास के पक्षपाती प्रत्यक्षगम्य से आगे किसी प्रकार की 'वस्तु' की सम्भावना ही स्वीकार नहीं करते, इसलिए उनके अनुसार समग्रात्मक दृष्टि वस्तुनिष्ठ हो ही नहीं सकती, क्योंकि वैसी कोई वस्तु ही नहीं होती। इसके विपरीत मैं प्रत्यक्षवादी दृष्टि को सूक्ष्म दर्शन के अयोग्य दृष्टि के रूप में ही देखता हूँ। मैं विवरणात्मक दृष्टि द्वारा लक्षित वस्तु और समग्रात्मक दृष्टि द्वारा लक्षित वस्तु को दो सर्वथा भिन्न प्रकार की वस्तुओं के रूप में देखता हूँ और इस प्रकार दोनों दृष्टियों को वस्तुनिष्ठ होने योग्य मानता हूँ। इस प्रसंग में डॉ. शर्मा ने हेगल का उल्लेख किया है। मैं इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं जानता। यदि मेरी दृष्टि में हेगल से अनुरूपता है तो इसके प्रामाणिक होने की सम्भावना बढ़ती ही है।

अपनी टिप्पणी के आरम्भ में शर्मा जी ने कहा है कि मैंने विवरणात्मक इतिहास को साक्षात्कारात्मक इतिहास की तुलना में गौण कहा है, "जैसे कि आत्मा की दृष्टि से देह गौण होती है।" मैंने इस प्रकार गौणता-मुख्यता की बात नहीं की। मैंने केवल यह कहा है कि विवरणात्मक दृष्टि इतिहास के सम्बन्ध में अनुपयुक्त दृष्टि है।

**डॉ. नन्दकिशोर शर्मा** ने मेरे प्रतिपादन पर दो आपत्तियाँ उठायी हैं। एक यह कि मैंने अतीत के विवरण और वर्तमान के विवरण के स्वरूप में भेद किया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



है जो तर्कसंगत नहीं है। नन्दकिशोर जी के अनुसार घटनाओं के दोनों प्रकार के विवरण एक जैसे भी हो सकते हैं। यहाँ नन्दकिशोर जी ने मेरा आशय समझने में बड़ी भूल की है। यों तो कोई विवरण 'वर्तमान' का होता ही नहीं, 'बीते' का ही होता है। किन्तु एक विवरण 'इतिहास' कहा जाता है और दूसरा 'समाचार'। 'इतिहास' और 'समाचार' में बड़ा अन्तर होता है। निश्चय ही समाचार को भी हम किसी संदर्भ में ही देखते हैं और समाचर-पत्र का संवाददाता भी वर्ण्य घटनाओं को किसी संदर्भ में ही देखता है, किन्तु ये संदर्भ भिन्न प्रकार के होते हैं जिनमें से एक को मैंने 'जातीय जीवन के रूप को समझने का संदर्भ' कहा है और दूसरे को 'तात्कालिक रुचि का संदर्भ', ऐसा नहीं है कि वर्तमान घटनाओं को जातीय जीवन की अभिव्यक्ति के व्यापक संदर्भ में नहीं देखा जा सकता। अवश्य देखा जा सकता है, किन्तु तब वह विवरण भी ऐतिहासिक विवरण का रूप ले लेता है।

नन्दकिशोर जी की दूसरी आपत्ति के उत्तर में मैं केवल इतना कहना चाहूँगा कि मैंने अपने लेख में इस पर भी विचार किया है, और उसके प्रमाण के रूप में मैं लेख के अन्तिम अनुच्छेद में से दो वाक्य यहाँ उद्धृत करूँगा। ये वाक्य हैं "...किन्तु जैसे जीव-जातियाँ अपनी निज-निज की जीवन-यात्रा में किसी उच्चतर पद पर आरोहण नहीं करतीं बल्कि उसी रूप में बनी रहती हैं या समाप्त हो जाती हैं किन्तु तब भी उच्चतर जातियाँ आविर्भूत हो जाती हैं और इस प्रकार जैव विकास अचेतनप्राय एककोशीय जीवों से आत्मचेतन जीव मनुष्य तक हुआ है, उसी प्रकार यह यदि आगे भी होता चला जाय और अतिमानवीय (मनोमय से ऊर्ध्वतर विज्ञानमय आनन्दमय) जीवों का आविर्भाव हो जाय तो वह दूसरी बात होगी।" ... "आगे यही यंत्र-चेतना अपनी निरर्थकता देख कर ऊर्ध्वतर आत्मचेतना के आविर्भाव की हेतु बन जाय अथवा अन्य कुछ अतर्क्य घटित हो जाय तो यह सम्भव हो ही सकता है, किन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि यह उग्रतर पशु पृथ्वी पर सर्वनाश का हेतु बने।" यहाँ स्पष्टीकरण में केवल इतना और कहना चाहूँगा कि मानवीय इतिहास-यात्रा और ब्रह्माण्डीय इतिहास-यात्रा, जिसमें मानव एक सोपान मात्र हो सकता है, अलग-अलग स्तर की गतियाँ हैं।

**दया जी की टिप्पणियों के उत्तर**

1. ऐतिहासिक काल वास्तव में प्रगति या प्रतिगामिता के क्रम के रूप में ही देखा जा सकता है, तटस्थ काल-गणना का काल, या जैव चेतना के प्राण-स्पंद का काल ऐतिहासिक काल के रूप में नहीं देखे जा सकते। फिर मैंने तो इस पर विचार कुछ यूरोपीय इतिहास-चिन्तकों के एतद्विषयक मत की समीक्षा के प्रसंग में ही किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA



2. 'इतिहास समाप्त हो गया है' ऐसा मैंने नहीं कहा। दया जी का वास्तव में यहाँ अभिप्राय था कि तस्वीर किसी स्थिर या निष्पन्न वस्तु की ही बनायी जा सकती है किन्तु इतिहास तो कभी निष्पन्न नहीं होता। किन्तु यह ठीक नहीं है। इतिहास की तस्वीर भविष्य की आकांक्षा से अतीत के आकलन के रूप में ही अधिकांशत: बनायी जाती है, यद्यपि बहुत बार वह भविष्य से निरपेक्ष रूप में भी बनायी जाती है। किन्तु इतिहास एक गतिमान काल के रूप में ही देखा जाता है और यह गति भविष्य तक बढ़ती ही देखी जाती है।
3. दया जी की तीसरी टिप्पणी का आशय स्पष्ट नहीं है। यह भी सम्भव है कि उनकी यह टिप्पणी ठीक तरह से लिखी नहीं जा सकी हो।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

# लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

## चिद्विमर्श

### यशदेव शल्य

### विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य 175.00

## मूल्यतत्त्व-मीमांसा

(शंकर-पुरस्कार से सम्मानित)

### यशदेव शल्य

### विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्र्य। परिशिष्ट : लोकसाधन।

मूल्य 200.00

## प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

### यशदेव शल्य - भगवती

### विषय-सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्धु का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection